आपस्तम्ब कल्प में यज्ञविद्या

JACL-KRC
013902
38
AM
3902

कुंवरलाल व्यासशिष्य

इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली

[illegible]

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जयपुर
परिसर

वर्गीकरण सं. ....

पुस्तक सं. 13902 .... दिनाङ्क ....

यह पुस्तक नीचे अङ्कित तिथि या उससे पूर्व लौटा दी जानी चाहिये। यदि पुस्तक निर्धारित तिथि से अधिक समय तक पाठक अपने पास रखेंगे तो 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब शुल्क देय होगा।

SV-2024

12.29

आपस्तम्बकल्प में यज्ञविद्या

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
जयपुर परिसर, जयपुर
पुस्तकालय
क्रमांक..........

आपस्तम्बकल्प में यज्ञविद्या

लेखक

डा० कुँवरलाल व्यासशिष्य

आचार्य एम० ए०, पी० एच० डी०,

इतिहासविद्याप्रकाशन, दिल्ली

© प्रकाशक : इतिहासविद्याप्रकाशन
आरामशीनगली, धर्मकोलोनी, नॉग लोई दिल्ली-41

प्रथम संस्करण, 1984

मूल्य : पचास रुपये (50-00) मात्र

JACL-KRC
013902

मुद्रक : अरुण कम्पोजिंग एजेन्सी, न्यू सीलमपुर, डी-102, दिल्ली-53

प्राक्कथन

आपस्तम्बकल्पसूत्र या यज्ञविद्या के सम्बन्ध में हिन्दी में क्या, किसी भी भारतीय भाषा या अंग्रेजी में भी कोई ग्रन्थ देखने या सुनने में नहीं आया, वस्तुतः कल्पसूत्र के श्रौतसूत्रभाग में प्रायः हिंसामययज्ञों का बाहुल्येन वर्णन है, अतः कल्पसूत्र वाङ्मय या यज्ञविद्या का वैष्णवधर्म, जैनधर्म और बौद्धधर्म के प्रभाव के कारणों से यज्ञपद्धति के लोप के साथ, कल्पवाङ्मय और यज्ञविद्या का ही प्रायः लोप हो गया था। स्पष्ट है ऐसी स्थिति में कल्पसूत्र या यज्ञविद्या का अध्ययन और अनुसंधान कोई सामान्यबुद्धि का काम नहीं, कल्पसूत्रों की भाषा और सूत्र शैली भी इस काठिन्य को बढ़ा ही देती है, ऐसी कठिन स्थिति में मैंने आपस्तम्बकल्पसूत्र का गहन अध्ययन करके यह ग्रन्थ लिखा और प्रकाशित करवाया है।

प्राचीम ऐतिहासिक अनुसंधान की दृष्टि से ही आपस्तम्बकल्प और तत्सन्निहित यज्ञविद्या का विशेष महत्व है और कल्पसूत्र के ऐतिह्यसम्बन्धी प्रकरणों का विशेष अनुशीलन किया गया है।

कल्पसूत्र यज्ञविद्या के अनिवार्य अंग थे, जैसा कि कुमारिलभट्ट ने कहा है—

वेदादृतेऽपि कुर्वन्ति कल्पैः कर्माणि याज्ञिकाः।
न तु कल्पैर्विना केचिन्मन्त्रब्राह्मणमात्रकम्॥

"विना वेदों के यज्ञ सम्पादित किये जा सकते हैं और याज्ञिक ऐसा करते भी हैं, परन्तु बिना कल्पों के, केवल मन्त्र या ब्राह्मण (ग्रन्थ) मात्र से यज्ञ नहीं किया जा सकता।"

कल्पसूत्रकार ऋषिवत् ही पूज्य माने जाते थे और उनका कृतित्व मन्त्रवत् हीं माना जाता था—

न तावदनृषिः कश्चित् स्मर्यते कल्पसूत्रकृत्।
कर्तृत्वं यदृषीणांतु तत्सर्वं मन्त्रकृत्समम्॥

अतः यह ग्रन्थ इतिहास के अनुसंधाता एवं यज्ञशास्त्र के अध्येता या याज्ञिक—दोनों के लिये उपयोगी रहेगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

अब ग्रन्थ की विषयसामग्री का अध्यायक्रम से सिंहावलोकन करणीय है—

प्रथम अध्याय में आचार्य आपस्तम्ब का इतिवृत्त एवं कल्पसूत्र का सूत्र-विभाग निर्दिष्ट है। आपस्तम्बकल्पसूत्र कितना विशालग्रन्थ है और इसके श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्रादि कितने विभाग है, यह ज्ञान इसके अध्येता को ही हो सकता है। कल्पसूत्र का प्रधानभाग इसका श्रौतसूत्र है, जिसमें श्रौतयज्ञों का वर्णन है। श्रौतयज्ञों का संक्षिप्तवर्णन या अध्ययन अन्तिम तीन अध्यायों में किया गया है।

इसी प्रथम अध्याय में आचार्य आपस्तम्ब की भाषा और सूत्रशैली का संकत किया गया है और प्राचीन अतिवाक् या वेदवाक् का यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, यही विश्व की आदिम और मूलभाषा थी, जिसकी प्रतिनिधि संस्कृत है, इसीलिये, न केवल योरोपीयन वरन् प्राचीन सुमेर, बैबीलन, मिस्र, ईरान, मैक्सिको, चीनादि की भाषाओं का संस्कृत से गहन साम्य है। योरोपीयदेशों के नाम आज भी असुरेन्द्रों के नाम पर है, इस अद्भुत ऐतिहासिक तथ्य का यहां संकेत किया गया है।

द्वितीय अध्याय में आपस्तम्बकृत यज्ञपरिभाषओं का अनुशीलन किया गया है।

तृतीय अध्याय, कुछ बड़ा हो गया है, परन्तु यज्ञविज्ञा को समझने के लिये **दैवतविज्ञान** अनिवार्य है, अतः वैदिकसाहित्य विशेषतः निरुक्त व बृहद्देवता के आधार पर यह अध्याय प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ अध्याय में संक्षेप में हौत्रकल्प और प्रवरों का उल्लेख किया है, प्रवर प्रकरण का ऐतिहासिक महत्व है।

पंचम अध्याय में आपस्तम्बकालीन ज्योतिष और कालमानों का अनुशीलन किया गया है। षष्ठ अध्याय में प्राचीन ज्यामिति (रेखागणित) का संक्षेप में उल्लेख किया गया है।

सप्तम अध्याय में आपस्तम्बकल्पसूत्र के आधार पर तत्कालीन संस्कृति का वर्णन है। अन्तिम तीन अध्यायों-आठ से दश तक समस्त यज्ञों का प्रतिपादन है।

डा० कुंवरलाल व्यासशिष्य

विषयसूची

अध्याय	पृष्ठसंख्या
प्रथम—कल्पसूत्रकार आचार्य आपस्तम्ब इतिवृत्त, कल्पसूत्र का उपक्रम, सूत्रशैली और भाषा।	1-26
द्वितीय—आपस्तम्ब में यज्ञपरिभाषा—यज्ञाधिकार आर्त्विज्य मन्त्रादिलक्षण, षोडशऋत्विग्गण, परिभाषायें,	27-44
तृतीय—दैवतज्ञान—देवपदनिर्वचन, देवसंख्या, देवकारचिन्ता, पृथ्वीस्थानदेवगण, आप्रीदेवता, अन्तरिक्षस्थदेवगण, स्त्रीदेवता, द्युस्थानीयदेवगण।	45-92
चतुर्थ—प्रवराध्याय।	93-100
पंचम—आपस्तम्बकालीन ज्योतिष और कालमान—महत्त्व, नक्षत्र, चन्द्रतिथियां, कालमान—युगपद्धतियां, देवयुग चतुर्युग	101-119
षष्ठ—आपस्तम्बशुल्व या ज्यामितिगणित—मान, रज्जु, कोण, पाइथागोरसप्रमेय, चातुर्भुज, वृत्त, प्रउग, व्यास, मध्य शंकु, वेदी।	120-124
सप्तम—आपस्तम्बकालीनसंस्कृति—प्राच्यजनपद, उदीच्य, प्रतीच्य दाक्षिणात्य, चातुर्वर्ण्यव्यवस्था, चातुराश्रम्य, स्त्री, राज्यसंस्था, परिवार, भोजन, वाहन, पशुपालन शिक्षा।	125-154
अष्टम—हविर्याग—दर्शपौर्णमास, दर्शेष्टि, आग्रयण अग्न्याधेय पुनराधेय, अग्न्युपस्थान, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य निरूढ़शुबन्ध।	155-181
नवम—सोमक्रतु—अग्निष्टोमप्राथम्य, सवनत्रय, गवामयन, वाजपेययज्ञ सौत्रामणी, अग्निचयन।	182-192
दशम—महायज्ञ—राजसूय, अश्वमेध पुरुषमेध सर्वमेध, पितृमेध।	193-200

ग्रंथसंकेतसूची

अथर्व या अ० = अथर्ववेद
आ० श्रौ = आपस्तम्बश्रौतसूत्र
ऐ० ब्रा० = ऐतरेयब्राह्मण
ऋ० = ऋग्वेद
का० सं० = काठकसंहिता
का० श्रौ० = कात्यायनश्रौतसूत्र
जै० ब्रा० = जैमिनीयब्राह्मण
जै० मी० सू० = जैमिनीयमीमांसासूत्र
तै० ब्रा० = तैत्तरीयब्राह्मण
तै० सं० — तैत्तिरीयसंहिता
नि० = निरुक्त
म० स्मृ० = मनुस्मृति
महा० = महाभारत
मु० = मुण्डकोपनिषद्
मै० = मैत्रायणीसंहिता
भा० गृ० सू० = भारद्वाजगृह्यसूत्र
भा० वृ० इ० = भारतवर्ष का वृहद्इतिहास
बृहद्० = बृहद्देवता
बृ० उ० = बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्र० पु० = ब्रह्माण्डपुराण
रा० = रामायण
विष्णु० = विष्णुपुराण
वायु० = वायुपुराण
वै० वा० इ० — वैदिकवाङ्मय का इतिहास
शा० = शान्तिपर्व
श० ब्रा० = शतपथब्राह्मण
शु० य० = शुक्यलजुर्वेद
हरि० = हरिवंशपुराण

प्रथम अध्याय

कल्पसूत्रकार आचार्य आपस्तम्ब

इतिवृत्त – महर्षि आपस्तम्ब प्राचीनतम सूत्रकारों में परिगणित किये जाते हैं, इनका कल्पसूत्र सम्पूर्णरूप में उपलब्ध है। आपस्तम्ब एक प्राचीन गोत्र था, जो कि प्रवरसूत्रों में भार्गवगोत्रान्तर्गत परिगणित किया गया है। इसी भार्गववंश का इतिहास[1] पुराण एवं वेद के निर्माण में अद्वितीय स्थान था।

कल्पव्याख्याता यज्ञेश्वर ने बौधायन को आपस्तम्ब का गुरु बताया है—

मेधां बौधायनो वो वितरतु सहितषष्टिसाहस्रशिष्यैः।
यस्यापस्तम्ब एकाधिकशतयजुषां पारगो मुख्यशिष्यः॥

आचार्य बौधायन आपको मेधा (बुद्धि) का वितरण करें। जिनके साठ सहस्र शिष्यों में मुख्यशिष्य आपस्तम्ब यजुर्वेद की 101 शाखाओं में पारंगत आचार्य थे।

बौधायन एक गोत्रनाम था, यह बौधायनगण भी कण्वगोत्रान्तर्गत था। इस गोत्र में अनेक बौधायन हुए। आपस्तम्बगुरु बौधायन काण्व एक ऐसे ही आचार्य थे। पूर्वोक्त यज्ञेश्वर ने ही लिखा है।

कल्पामृतं क्षितिसुरप्रकराय योऽदात्।
वेदाम्बुराशिमधिगम्य निजप्रभावात्।
बौधायनाय मुनिवन्दितपादपद्मद्वन्द्वाय।
कण्वतनयाय नमोऽस्तु तस्मै॥[2]

"जिस कण्ववंशज बौधायन, जिसके चरणद्वन्द्व की उपासना सहस्रों मुनियों ने की, उन्होंने कल्पसूत्ररूपी अमृत वेदरूपीसमुद्र से निकालकर ब्राह्मणों को दिया।"

तैत्तिरीयसम्प्रदाय में 'ऊख' और 'खण्डिक' नाम के आचार्य हुए। इन्होंने औखेय और खाण्ठिकेयचरण की स्थापना की। खाण्डिकेयचरण के पांच विभाग थे।[3] जिनमें एक आपस्तम्बचरण था। शाखाप्रवर्तक आचार्य आपस्तम्ब ही कल्पसूत्र के रचयिता थे।

---

1. ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यवदन् (छा॰ 3/612)
2. आपस्तम्बश्रौतसूत्रभूमिका में उद्धृत, पृ॰ 7।
3. तत्र खाण्डिकेया नाम पंचभेदा भवन्ति—'कालेता हैरण्यकेशी, भारद्वाजी आपस्तम्बी च (चरणव्यूह)

पाणिनि ने विदादिगण (अष्टा 4/104) में आपस्तम्ब नाम पढ़ा है। महाभारत, अनुशासनपर्व में आपस्तम्ब का एक श्लोक श्राद्ध के सम्बन्ध में मिलता है। कल्पसूत्रों के विभिन्न प्रवरसूत्रों में भी आपस्तम्बगण स्मृत है। इन प्रमाणों से आपस्तम्बनाम की प्राचीनता सिद्ध एवं सुस्पष्ट होती है परन्तु आपस्तम्ब गोत्रनाम था, अतः इस नाम के अनेक व्यवित हुये अतः कल्पसूत्रकार आपस्तम्ब आचार्य का नाम अज्ञात ही है।

आपस्तम्ब के जन्मस्थान का निश्चय नही हो पाया है। ब्यूहलर नामक पाश्चात्यलेखक आपस्तम्ब को 'महार्णव' नामधेय तन्त्रग्रन्थ के आधार पर आन्ध्रनिवासी मानते थे। परन्तु 'महार्णव' ग्रन्थ में केवल वेदशाखा के अध्येताओं एवं प्रचार क्षेत्र का कथन हैं, उसमें सूत्रकारों का इतिवृत नहीं है। तन्त्रकाल में आन्ध्रजनपद में आपस्तम्बशाखा प्रचलित थी, केवल यही तथ्य 'महार्णव' से ज्ञात होता है। इस सम्बन्ध में डा० रामगोपाल[1] का मत मानने योग्य है कि आपस्तम्ब 'युगन्धर[2] जनपद के निवासी थे, क्योंकि उन्होंने अपने गृह्यसूत्र में यह श्लोक पढ़ा है—

यौगन्धरिरित्येव नो राजा शाल्वीरवादिषु।
निवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तव ।।

हे यमुने ! यौगन्धरि हमारा राजा है, ऐसा गीत विशालक्षेत्र (चक्र) वाली शाल्वस्त्रियाँ यमुना के तट पर बैठकर गाती थी।"

प्राचीनकाल में शाल्वजनपद के छः अवयव थे[3] उदुम्बर, तिलखल मद्रकार युगन्धर, भुलिंग और शरदण्ड। युगन्धरजनपद महाभारतकाल में श्रेष्ठ राज्य था और उन्होंने पाण्डवपक्ष के साथ युद्ध में भाग लिया था। मैगस्थनीज ने युगन्धर का गन्दरितन (gandaritan) नाम से उल्लेख किया है जो भद्रकारों (पारिभद्रक= पालिबोथ्रा) के साथी थे। इन्हीं प्रभद्रक या परिभद्रक (पालिबोथ्रा) जनपद में किसी चन्द्रकेतु राजा के यहां मैगस्थनीज रहा था। युगन्धरों ने प्रभद्रकों के साथ सिकन्दर से युद्ध किया था। वे सभी वर्तमान पंजाब और हरियाणा प्रदेश के अन्तर्गत थे।

अतः आचार्य आपस्तम्ब की जन्मभूमि युगन्धरजनपद यमुना के पश्चिमतट पर और कुरुक्षेत्र के दक्षिण में स्थित था।

---

1. India of Vedic kalpsutras chapter V
2. आप० गृह्य० (6/15/5)
3. उदुम्बरास्तिलखला मद्रकारा युगन्धराः।
   भुलिङ्गाः शरदण्डाश्च शाल्वावयवसंज्ञिताः ।। (काशिका 4/1/173)
4. द्रष्टव्य—भारतवर्ष का वृहद् इतिहास, भाग 2, पृ० 182
   तथा पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० 71-74

आपस्तम्ब का समय—महाभारत, पुराण, और अष्टाध्यायी में आपस्तम्ब के उल्लेख से सुस्पष्ट है कि आचार्य आपस्तम्ब शौनक यास्क शाकटायन, याज्ञवल्क्य, शाम्बव्य आदि वेदाचार्यों के प्रायः समकालीन सूत्रकार थे, ये बौधायन पाणिनि कात्यायन और आश्वलायन के पूर्ववती थे। प्रमाणों से शौनकदीर्घसत्न का समय 2750 वि० पू० था, आपस्तम्ब इनसे एकशती पूर्व और व्यास से दो शती पश्चात् अर्थात् 2850 वि० पू० हुये। यही आपस्तम्ब का समय था। आपस्तम्ब निश्चय ही पाणिनि के पूर्ववर्ती और यास्क के समकालिक थे।

आपस्तम्बकृतवाङ्मय – कल्पसूत्र का उपक्रम—मनीषी एवं उदारबुद्धि सूत्रकार आचार्य आपस्तम्ब ने 'यज्ञं व्याख्यास्यामः' सूत्र से प्रारम्भ करके 21 प्रकार के यज्ञों का परिगणन किया गया है तथा प्रथमप्रश्न में 'अथातो दर्शपूर्णमासौ व्याख्यास्यामः' इस प्रकार प्रारम्भ करके क्षामवत् इत्यादि नैमित्तिक इष्टियों एवं काम्येष्टियों का प्रतिपादन किया है। यह यज्ञपरिभाषा मीमांसादर्शन की व्यवस्थारूप में समझने चाहिए। यह सुदर्शनाचार्य[1] का मत है।

आपस्तम्बकल्पसूत्र का प्रारम्भ किस प्रकार कहां से होता है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। एक पक्ष के अनुसार परिभाषासूत्रों से कल्प का प्रारम्भ है।[2] यही न्यायपक्ष है, क्योंकि प्रत्येक कल्पसूत्र (यथा आश्वलायन, सत्याषाढ़, कात्यायन, भारद्वाज आदि के कल्पसूत्रों) के प्रारम्भ में ही परिभाषायें मिलती है:

अतः यज्ञपरिभाषासूत्र, इस मत से, प्रथम प्रश्न (अध्याय) होना चाहिए। परन्तु वर्तमानपाठों में वह चौबीसवां प्रश्न है। द्वितीयपक्ष के अनुसार अथातोदश पूर्णमासौ व्याख्यास्यामः[3] इस सूत्र से कल्प का प्रारम्भ होता है। इस मत से यह प्रथम प्रश्न है और परिभाषासूत्र चौबीसवां प्रश्न है। सायण से अर्वाचीन याज्ञिक विद्वान् चौण्डपाचार्य ने प्रयोगरत्नमाला में आपस्तम्बकल्पसूत्र के प्रारम्भ के विषय में लिखा है—

त्रिंशत्प्रश्नात्मकं सूत्रमापस्तम्वमुनीरितम्।
श्रौतगार्ह्यस्मार्तकर्म बोधव्यं तत्र पञ्चभिः॥

आपस्तम्बकल्पसूत्र 30 प्रश्नात्मक है। इसमें पांच विभाग हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, गृह्यमन्त्र, धर्मसूत्र, और शुल्वसूत्र।'

---

1. सति चैव यज्ञशास्त्रव्याख्यातत्परिगृहीतवेदव्याख्यानिबन्धाइव मीमांसादर्शनमपि यज्ञशास्त्रव्याख्यारूपमेवति सिद्धं भवति।
2. यज्ञं व्याख्यास्यामः (24/11 आप० श्रौ०)
3. आप० श्रौ० (11/11)

तथा कहा है—

त्रयोविंशे ततः प्रश्ने सत्रायननिधिक्रमः ।
चतुर्विंशे ततः प्रश्ने न्यायप्रवरहौत्रकम् ॥
पञ्चविंशे च षड्विंशे गार्ह्यमन्त्राः प्रपञ्चिताः ।
प्रश्नेऽथ सप्तविंशे स्यात् गार्ह्यतन्त्रविधिक्रमः ।
अष्टाविंशैकोनविंशप्रश्नयोः स्मार्तसत्क्रियाः ।
सामान्यतोत्रिंशे शुल्बविनिर्णयः ।
एवं सामान्यतस्सर्वप्रश्नानामर्थविनिर्णयः ॥

तेईसवें प्रश्नतक (दर्शपौर्णमासिक से प्रारम्भ करके) सत्रायनविधि का कथन है। चौबीसवें प्रश्न में न्याय (परिभाषा) प्रवर और होत्रविधि कथित है । पच्चीसवें और छब्बीसवें प्रश्न में गृह्यमन्त्र कथित है । अट्ठाईसवें सत्ताईसवें प्रश्न में गृह्यसूत्र हैं, अट्ठाईसवें और उन्तीसवें प्रश्न में धर्मसूत्र (स्मार्तधर्म) कथित हैं। तीसवें प्रश्न में सामान्य शुल्बसूत्र हैं इस प्रकार तीस प्रश्नों के विषय हैं।

सूत्रपाठसम्प्रदाय—आपस्तम्बकल्प में दो प्रकार के आभ्यन्तर विभाग हैं. प्रश्न अध्याय एवं सूत्र, द्वितीय प्रकार के विभाग में प्रश्न, पटल, खण्डिका और सूत्र इस प्रकार खण्डिकात्मक और सूत्रात्मक दोनों विभागों में हस्तलिखित कोश मिलते हैं। सायणाचार्य ने दोनों ही प्रकार से आपस्तम्ब के सूत्र उद्धृत किये हैं।

कैलेण्ड नामक पाश्चात्य वैदिक विद्वान् ने जर्मनभाषा में अनूदित, तीन भागों में प्रकाशित, रुद्रदत्तवृत्तिसहित आपस्तम्बकल्पसूत्र सूत्रक्रम में विभक्त 30 प्रश्नों में प्रकाशित किया है। कपर्दिभाष्य में भी प्रायः यही सूत्रक्रम है। परन्तु पटलविभाग (खण्डिकासहित) प्राचीन और मूलपाठ प्रतीत होता है।

सूत्रविभाग – इस सूत्र के पांच विभाग हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यमन्त्रपाठ, गृह्यसूत्र धर्मसूत्र और शुल्वसूत्र। रुद्रदत्त आदि आचार्य 'यज्ञपरिभाषा' भाग को श्रौतसूत्र, का चौबीसवां प्रश्न मानते हैं, इसके विपरीत धूर्तस्वामी आदि व्याख्याकार इसको कल्पसूत्र का आदिम प्रश्न मानते हैं।

श्रौतसूत्र—23 प्रश्नपर्यन्त श्रौतभाग की मुख्य विषयसूची इस प्रकार है—

(1)	तीन प्रश्नों में	—	दर्शपूर्णमासयज्ञ
(2)	चतुर्थ प्रश्न में	—	याजमान
(3)	पञ्चम ,,	—	अग्न्याधेय, पुनराधान
(4)	षष्ठ ,,	—	अग्निहोत्र
(5)	सप्तम ,,	—	निरूढ़पशुबन्ध
(6)	अष्टम ,,	—	वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध, शुनासीरीय और चातुर्मासियज्ञ
(7)	दश से द्वादशप्रश्न में	—	अग्निष्टोम (प्रातः सवन)
(8)	त्रयोदश प्रश्न	—	मध्यदिन और तृतीयसवन

(10) चतुर्दशप्रश्न में —उक्थ्य, षोडशी, आप्तोर्याम और अतिरात्र
(11) पञ्चदश प्रश्न में —प्रवर्ग्य
(12) षोडश और सप्तदश में—अग्निचयन
(13) अष्टादश में —वाजपेय और राजसूय
(14) उन्नीसवें प्रश्न में —सौत्रामणी और पश्विष्टि
(15) बीसवें में ,, अश्वमेध, पुरुषमेघ और सर्वमेघ
(16) इक्कीसवें में ,, द्वादशाह, गवामयन
(17) बाईसवें में ,, अहीन और सव
(18) तेईसवें में ,, सत्र

आपस्तम्बीयमन्त्रपाठ—पच्चीसवें और छब्बीसवें प्रश्न में 'गार्ह्य मन्त्र' कथित हैं।

सर्वप्रथम विन्टरनित्स ने (आक्सफोर्ड 1889 ई०) आपस्तम्बगृह्यमन्त्रपाठ को प्रकाशित किया। आपस्तम्बीयगृह्यमन्त्रपाठ गृह्यकृत्यसम्बन्धी मन्त्रों का संग्रह है, यह निश्चय ही आचार्य आपस्तम्ब की कृति नहीं और न ही तैत्तिरीयसम्प्रदाय की एकमात्र गृह्यमन्त्रपाठसम्बन्धी स्वतन्त्रकृति है। विन्टरनीत्स के मत में आपस्तम्ब-गृह्यमन्त्रपाठ और आपस्तम्बगृह्यसूत्र में वही सम्बन्ध है जो सामवेद के मन्त्रब्राह्मण और गोभिलगृह्यसूत्र में है।[1] परन्तु विन्टरनित्स[2] का यह मत असत्य और क्लिष्ट है कि 'मन्त्रपाठ' स्वतन्त्र कृति थी। आपस्तम्बीयशाखा का प्रवचनकार आचार्य आपस्तम्ब ही था, अतः कल्पसूत्र के समान वही 'गृह्यमन्त्रपाठ' का संकलनकर्त्ता था, इसमें कोई सन्देह नहीं। ये गृह्यमन्त्र निश्चय आपस्तम्ब से प्राचीनतर थे, परन्तु उनका संकलनकर्त्ता आपस्तम्ब ही था। यथा श्रौतसूत्रादि में विभिन्न वेदसंहिताओं से मन्त्र

---

(1) The relation between the Apastamba Grahya Sutra and Mantrapalha is very similar to that between the Gobila Grahya and the Mantra Brahman of the Samaveda. While most of the other Grahya Sutras give the prayers in full when describing the different domestic rites, apart and Gobila mainly describe the rites and refer to the prayers as known from their respective prayer books. (p. XXXI).

(2) The Mantrapatha existed as an independent Vedic work, forming a kind of appendix to the literature of taittiriyas...... This proves, I believe, conclusively, that Apasatamba is neither the author or compiler of the Mantrapatha, which must have existed as an independent collection before the Grahya Sutra composed. (आपस्तम्बीयमन्त्रपाठ :, पृ० XXXVII-III)

संकलित किये, उसी प्रकार आपस्तम्ब ने ही गृह्यमन्त्र भी विभिन्न वैदिकग्रन्थों से संकलित किये। अतः विन्टरनीत्समत अपुष्ट एवं कल्पना पर आधारित है, सत्यानुसंधित्सु के अनुरूप नहीं।

गृह्यसूत्र—इसमें निम्नलिखितविषयसम्बन्धी विधान हैं विवाह, उपनयन, समावर्तन, सीमन्तोन्नयन, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, गोदान, गृहप्रवेश, श्रावणकर्म, बलि, वास्तुशमन, श्राद्ध, अष्टका और प्रायश्चित्त।

यह एक लघुग्रन्थ है, जो कि कल्प का सत्ताईसवाँ प्रश्न है। इसका पृथक् अध्याय में अध्ययन किया जायेगा।

धर्मसूत्र—अट्ठाईसवें और उन्तीसवें प्रश्न में स्मार्तधर्मविवेचन है।

शूल्वसूत्र—तीसवें प्रश्न में वेदिनिर्माणसम्बन्धी नियम है। इन सभी विषयों का पृथक्-पृथक् अध्यायों में अध्ययन किया जायेगा।

सम्पूर्ण कल्पसूत्र का रचयिता आपस्तम्ब - अन्य प्राचीनभारतीयग्रन्थों के रचयिताओं के सम्बन्ध में जिस प्रकार पाश्चात्य लेखकों ने भ्रष्ट एवं भ्रामक कल्पनायें की हैं, उसी प्रकार आपस्तम्बकल्प के विषय में वैसी ही निराधार कल्पनायें की हैं। अपनी परम्परा के अनुसार वे आपस्तम्बीय यजुर्वेदशाखा, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, आदि के रचयिताओं पृथक्-पृथक् आचार्य मानते थे, उनके मत में आपस्तम्बाचार्य सम्पूर्ण कल्पसूत्र के रचयिता नहीं हैं। पाश्चात्यों के ये मत श्रद्धेय एवं विश्वसनीय नहीं हैं। पाश्चात्यलेखकों के निरर्थक एवं भ्रामक प्रलाप के रहते हुये भी प्राचीन भारतीय ग्रन्थ उसी लेखक की कृति माने जाते हैं, जिसकी कि वे हैं यथा महाभारत व्यास की कृति मानी जाती और अर्थशास्त्र चाणक्य की ही कृति मानी जाती है, किसी और काल्पनिक व्यक्ति की नहीं। इसी भाँति सम्पूर्ण कल्पसूत्र के रचयिता आचार्य आपस्तम्ब ही माने जाते हैं और वास्तव में वे सम्पूर्ण कल्प के रचयिता थे भी। प्राचीन भाष्यकारों, टीकाकारों एवं अन्य वैदिक विद्वानों को इस सम्बन्ध में कोई शंका ही नहीं थी, अतः इस प्रश्न के उठने का प्रश्न ही नहीं होता। डा० रामगोपाल को भारतीय सम्मति और निर्णय में कोई विशेष शंका नहीं।[1] आपस्तम्बकल्पसूत्र के सम्पादक गार्बे की भी यही सम्मति है।[2]

---

(1) There is hardly any ground to doubt the tradition regarding those Sutras. Dr Ramgopal—India of Vedic Kalpa Sutras p. 6.

(2) The whole of the Sutra collection being the work of one and the same author has been proved by Proff. Buhler and Dr. Winternitz, see. Garbe's Intr. to App. SS. Vol. III. p. 13.

महर्षि आपस्तम्ब की प्रधान कृति यही कल्पसूत्र लोक में ख्यात है, किन्तु बहुत से अन्य ग्रन्थ भी आपस्तम्बरचित माने जाते हैं, यथा आपस्तम्बस्मृति। आपस्तम्ब शास्त्रकारों में अग्रगण्य माने जाते थे—

यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती।
पराशरव्यासशंखलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति 1/4-5)

इस समय आपस्तम्बस्मृति में 207 श्लोक है॥ इनके अन्य ग्रन्थ भी सुने जाते हैं।[1]

आपस्तम्ब ने अन्य अनेक वैदिकग्रन्थों से सामग्री संकलित की है, इस सम्बन्ध में संक्षिप्त विवेचन आगे किया जाता है।

आपस्तम्ब और तैत्तिरीयचरण—तित्तिरि के शिष्य खण्डिकाचार्य के शिष्य आपस्तम्बाचार्य थे अथवा खण्डिकेयचरण से आपस्तम्ब का सम्बन्ध था, अतः तैत्तिरीयचरण के अन्तर्गत होने से आपस्तम्बकल्पसूत्र का तैत्तिरीयसंहिता आदि से विशेष सम्बन्ध था। इसीलिये आचार्य ने अधिकांश मन्त्र तैत्तिरीयसंहिता, तैत्तिरीयब्राह्मण और तैत्तिरीयारण्यक से उदाहृत किये हैं। आचार्य ने 'मन्त्र' और प्रवचन 'इत्युत्तम्' इस संकेत द्वारा तैत्तिरीयसंहिता के मन्त्र, और 'यथाब्राह्मणम्', यथासमाम्नातम् 'विज्ञायते' इत्यादिसंकेतों के अनन्तर तैत्तिरीयसम्प्रदाय के वचन उद्धृत किये हैं।

अन्य वेदसंहिताओं से मन्त्र—आपस्तम्ब ने श्रौतसूत्र में न्यूनतम 6। मन्त्र ऋग्वेदसंहिता से उद्धृत किये हैं। इसी प्रकार मैत्रायणीसंहिता और काठक संहिता से अनेक मन्त्र संकलित किये हैं। जर्मन विद्वान् श्रौडर के मतानुसार आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 6.2.3 भाग कपिष्ठलशःखा का लुप्त अध्याय है। आपस्तम्त्र ने अथर्ववेद से 23 मन्त्र संकलित कियें हैं।

आचार्य आपस्तम्ब तैत्तिरीयचरण का आचार्य होने के कारण 'वाजसनेयचरण' उनका प्रतिद्वन्द्वि था, अतः सर्वाधिक मत आचार्य ने वाजसनेयों के उद्धृत

---

1. "इतना ही नहीं, आपस्तम्ब के नाम से गृह्य एवं श्रौतसूत्रसम्बन्धी बहुत से प्रकरणग्रन्थ मिलते हैं, यथा आपस्तम्बगृह्यप्रयोग, दर्शपद्धति, पूर्वप्रयोगकारिका, पौण्डरीकप्रयोग, महाग्निचयनप्रयोग आदि पुनः धर्मविषयक आपस्तम्ब यल्लोम, आपस्तम्बश्राद्ध, आपस्तम्बरुद्र एवं शुल्वसम्बन्धी आपस्तम्बशुल्बोपधान इत्यादि ग्रन्थ हैं। धर्मसूत्रग्रन्थ के अतिरिक्त श्लोकवद्धस्मृति भी आपस्तम्ब के नाम से उपलब्ध है। यह दश अध्यायों का छोटा ग्रन्थ है। इसमें ؍07 श्लोक हैं।"
—वैदिकसाहित्य और संस्कृति, पृ० 262

किये हैं। इसी प्रकार शतपथब्राह्मण (वाजसनेयब्राह्मण) में वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने सर्वाधिक मत 'चरक' (वैशम्पायन तित्तिरिगुरु) के उद्धृत किये हैं। आपस्तम्ब चरक[1] या तैत्तिरीयचरण के प्रधान आचार्य थे, अतः उन्होंने अनने श्रौतसूत्र के निम्नसूत्रों में 'वाजसनेयकमिति' लिखकर उनके मत प्रदर्शित किये हैं—

आप० श्रौत०	1/4/7
,,	2/9/8
,,	4/1/5
,,	5/22/8 इत्यादि

आपस्तम्ब ने निम्न आचार्यो का श्रौत में स्मरण किया है—

आलेखन[2], आश्मरथ्य[3], कौषीतकिनः, ताण्डिन[4], पालङ्‌्कायना[5] बह्वृच[6],।

आचार्य ने धर्मसूत्र में इन आचार्यो का स्मरण किया है—

काण्व (ध० सू० 1/6/19/7), कण्व (ध० 1/6/19/3), कुत्स (ध०सू० 1/6/19/7), कौत्स (ध०सू० 1/6/19/4), पुष्करसादेः (ध० सू० 1/6/119/7), वार्ष्यायणी (ध०सू० 1/6/19/5) हारीत ‚धसू० 1/4/14/11), श्वेतकेतु (ध०सू० 1/2/6) आचार्य ने अपने ग्रन्थ में निम्नलिखित ग्रन्थों का नामतः उल्लेख किया है—

कङ्कतिब्राह्मणम् (आ० श्रौ० 14/20/4)
काठका : (21/23/6 आ० श्रौ०)
कालबविब्राह्मणम् (आ० श्रौ० 20/9/9)
छन्दोगब्राह्मणम् (10/1/3, 10/2/5)
ताण्डकम् (21/1615) श्रौ सू०
पैङ्गायनिब्राह्मणम् (5/15/8) श्रौ सू०)
बह्वृचब्राह्मण (1/21/0) श्रौ० सू
भाल्लविकम् (21/16/15) श्रौ० सू०

---

1. (क) अथ पृषदाज्यं तदु ह चरकाध्वर्यवः······।
प्राणः पृषदाज्यमिति वदन्तस्तदु ह याज्ञवल्क्यः चरकाध्वर्युस्तु व्याजहार (श० ब्रा० 3-8-2-24)
(ख) 'प्राजापत्यं चरका आलभन्ते' (श० ब्रा० 6-2-2-1)
2. आ० श्रौ० 5-29-14
3. आ० श्रौ० 5-29-14
4. आ० श्रौ० 24-10-18
5. आ० श्रौ० 21-23-5
6. आ० श्रौ० 6-27-2

शाट्यायनकम् (10/12/13) श्रौ० सू०
शाट्यायनिब्राह्मणम् (5/23/5) श्रौ सू०
शैलालिब्राह्मणम् (6/4/7) श्रौ सू०
आथर्वणश्रुति (2/11/29)ध० सू०
पुराणम् (1/6/19/13) ध० सू०

भविष्यत्पुराण का नामत उल्लेख है और उसके श्लोक धर्मसूत्र (2/9/24/6) में उदाहृत है—

अथ पुराणे श्लोकावुदाहरति—

अष्टाशीतिसहस्राणि ये प्रजामीषिर ऋषयः ।
दक्षिणेनाऽर्यम्णः पन्थानं ते श्मशानानि भेजिरे ।
अष्टाशीतिसहस्राणि ये प्रजां नेषिर ऋषयः ।
उत्तरेणाऽर्यम्णः पन्थानं तेऽमृतत्वं हि कल्पते ।।
"पुनस्सर्गे बीजार्था भवन्तीति भविष्यत्पुराणे"

निम्न पद्य महाभारत, अनुशासनपर्व का आपस्तम्ब ने धर्मसूत्र (2/7/7/8) में उदाहृत किया है—

सम्भोजनी नाम पिशाचभिक्षा नसा पितॄन् गच्छतिनोऽथ देवान् ।
इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टवत्सा ।।

आपस्तम्वधर्मसूत्र के अध्यात्मपटल से वेदान्तदर्शनसूत्रों का आभास भी सहज ही होता है । 'न्याय' (दर्शन) का नामतः उल्लेख किया है—

अङ्गानां तु प्रधानैरव्यपदेश इति न्यायवित्समयः ।
(ध० सू० 2/4/8/13)
अथापि नित्यानुवादमविधिमाहुर्न्यायविदः ।
(ध० सू० 2/6/14/13)

जैमिनिमीमांसासूत्रों से आपस्तम्बसूत्रों की साधर्म्यता—आचार्य आपस्तम्ब ने अपने पूर्ववर्ती सामगाचार्य, व्यासशिष्य जैमिनिकृत मीमांसासूत्रों का पर्याप्त अनुकरण किया। दोनों आचार्यों के कुछ सूत्रों की तुलना द्रष्टव्य है—

आपस्तम्बश्रौतसूत्र	**जैमिनिमीमांसासूत्र**
(1) नास्यैतां रात्रिं कुमाराश्चन पयसो लभन्ते (1/4/2)	(1) तथा पयः प्रतिषेधश्च कुमाराणाम् (11/1/51)
(2) नर्तुं सूर्क्षेन्न नक्षत्रम् (5/1/51)	(2) ऋतुनक्षत्रातिक्रमवचनात् (5/4/6)

(3) स्वामिनोऽग्नेरित्यादि (यज्ञप०सू० 4/1) (3) न देवताग्निक्रियमिति (/3/18)

(4) पितृयज्ञः स्वकालतिधानादनङ्गं स्यात् (य० प० सू० 2/35) (4) पितृयज्ञः स्वकालाविधानादनङ्गं स्यात् (4/4/19)

(5) अर्थद्रव्याविरोधेऽर्थो बलीयान् (5) अर्थद्रव्याविरोधे बलीयान् (6/3/39)

(6) प्रतिषिद्धे च दर्शनात् (य०प०सू० 2/37) (6) प्रतिषिद्धे च दर्शनात् (4/4/21)

(7) तुल्यवच्च प्रसंख्यानात् ।(यं०प०सू० 2/16) (7) तुल्यवच्च प्रसंख्यानात् (4/4/20)

कुछ विद्वानों के मत में आपस्तम्बकल्पसूत्र जैमिमिमीमांसासूत्रों से प्राचीनतर है। लेकिन यह मत सत्य नहीं हैं। पाश्चात्य रङ्ग में रंगे हुये विद्वान् म० म० वा० पा० काणे को भी मानना पड़ा कि मीमांसासूत्र आपस्तम्ब से पूर्वकालिक हैं।[1]

(आपस्तम्ब की सूत्रशैली और भाषा)

ग्रन्थरचना में सूत्रशैली का प्रादुर्भाव कब हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु महाभारतयुग से पूर्व सूत्ररचना का प्रादुर्भाव हो चुका था। पञ्चशिख पाराशर्य के भिक्षुसूत्र, आश्मरथ्य के ब्रह्मसूत्र, शाण्डिल्य, नारदादि के भक्तिसूत्र महाभारतयुद्ध से पूर्व रचे जा चुके थे। कल्पसूत्रों की सभी रचनायें सूत्रशैली में रची गई। परन्तु प्राचीनसूत्रों यथा, भारद्वाज, आपस्तम्व आदि के कल्पसूत्र प्रायः अल्पाक्षर एवं सारवान् नहीं हैं, जैसा कि सूत्र का लक्षण बताया गया है—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं सूत्रं सूत्रकृतो विदुः ।[2]

सूत्र के लक्षण आपस्तम्वसूत्रों पर बहुत कम घटते हैं। शांखायन और बौधायन के कल्पसूत्र तो प्रायः ब्राह्मणसदृश गद्यरचनायें हैं। सूत्रशैली की चरम

1. The correspondence in language with Purvamimansa Sutra is so close that one is tempted to advance the view that Apastamba knew the extent Mimansa Sutra or an earlier Version of it that containted almost the same expressions.
(History of Dharma Shastra, p. 42)

2. वायुपुराण (59-142)

परिणति बादरायण के ब्रह्मसूत्रों अथवा पाणिनिसूत्रों में हुई। इसी प्रकार के कल्पसूत्र कात्यायनकृत हैं। कात्यायन और आश्वलायन की अपेक्षा आपस्तम्ब के सूत्र प्रायः दीर्घाक्षर एवं ब्राह्मणसदृश गद्य है। कात्यायन ने जो बात एक सूत्र में कही है, वही बात आपस्तम्ब ने 11 सूत्रों में कही है, यथा द्रष्टव्य है—कात्यायन का सूत्र है—

अनृतातिथ्यपनोदपूतिदार्वाधर्बीसपक्काव्युदकानि वर्जयेत् ।[1]

अन्तरमाधानादाहिताग्निव्रतानि ।[2]

नानृतं वदेत् ।[3]

नास्यब्राह्मणोऽनाश्वान्, गृहे वसेत् ।[4]

सूर्योढ़मतिथिं वसत्यै नापरुन्धीत ।[5]

नर्बीस्वपव्कस्याश्नीयात् ।[6]

क्लिन्नं वासो नादध्यात ।

अन्तर्नाव्यांनाश्नीयात् ।[8]

स्वकृत इरिणो नावस्येत् ।[9]

पुण्यस्स्यात् ।[10]

हिङ्कृत्य वाग्यतः स्त्रियमुपेयात् ।[11]

व्याहरेद्वा ।[12]

इस प्रकार आपस्तम्बसूत्रों को लघु एवं स्वल्पाक्षर नहीं कहा जा सकता। आपस्तम्ब के सूत्र एवं विषय भारद्वाज से ही मिलते जुलते हैं।

इस सम्वन्ध में श्री काशिकर महोदय का मत द्रष्टव्य है—"of all the sutras belonging to the Tattiriya recension the Bhardwaja Sraut Sutras shows the greatest affirmity with Apastamba. Not only are the

1. कात्या० श्रौ० (3-10-15);
2. आ० श्रौ (4-0-15)
3. आ० श्रौ० (5-7-25-2)
4. आ० श्रौ० (5-7-25-14)
5. आ० श्रौ० (5-7-25-4)
6. आ० श्रौ० (5-7-25-5)
7. आ० श्रौ० (5-7-25-6)
8. आ० श्रौ० (2-7-25-7)
9. आ० श्रौ० (5-7-25-8)
10. आ० श्रौ० (5-7-25-9)
11. आ० श्रौ० (5, 7,25-10)
12. आ० श्रौ० (5-7-25-10)

ritualistic details in the Two sutras similar, but the construction of the two Sutras also is similar. Many of the Sutras in these two texts have identical wording and there are minor differences in remaining portions.

A comparative table of the contents of the two Sutras, with special reference to the extent of Bhardwaj S.S. is given below.

प्रश्न	भार० श्रौ० सू०	प्रश्न आ० सू०	
1, 2, 3	दर्शपूर्णमास	1, 2, 3	दर्शपूर्णमास
3,1;-18	ब्रह्मत्वम्	3,14-18	ब्रह्मत्वम्
4	याजमानम्	4	याजमानम्
5	अग्न्याधानम्	5	अग्न्याधानम्
6	अग्न्युपस्थानम्	6	अग्निहोत्र
7	निरूढ़पशुबन्ध	7	निरूढ़पशुबन्ध
8	चातुर्मास्यानि	8	चातुर्मास्यानि
9	प्रायश्चित्तानि	9	प्रायश्चित्तानि
10	ज्योतिष्टोम	10	ज्योतिष्टोम

(द्र० भा० श्रौ० प्रास्ताविक, काशिकर कृत पृ० LXXIX)

22 सूत्रों में आपस्तम्ब ने 'एके' इस शब्द द्वारा भारद्वाज के मत उद्धृत किये हैं, ऐसा टीकाकारों का अभिमत है, यथा द्रष्टव्य है—

भारद्वाजस्त्वत्रानुग्रमाह (आ० श्रौ० 7/13/14 रुद्रदत्त)

"तदुक्तं भारद्वाजेन यद्यविस्तरस्याज्यं
प्रतिनिधिरिति (आ० श्रौ० 9/18/3, रुद्रदत्त)

यह पहिले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि भारद्वाजपितृमेध का अनुकरण एवं अनुपालन आपस्तम्बशाखियों द्वारा किया जाता था।[1]

---

1. भारद्वाजकृतं सूत्रं तद्भाष्यं कल्पकारिकाः ।
आपस्तम्बैरपि ग्राह्यं नान्यत् सूत्रं हि विद्यते
श्रीभारद्वाजकृतमेतत् कल्पाख्यं सूत्रं जगति प्रसिद्धम् ।
ग्राह्यं तदन्त्येष्टिविधौ सदापस्तम्बैः ॥
(हरिहरकृत अन्त्येष्टिप्रयोग के वचन काशिकर द्वारा भा० श्रौ० पृ० XIVIII में उद्धृत)

भारद्वाज की सूत्ररचनाशैली व भाषा आपस्तम्ब के तुल्य ही है।

भाषा—सूत्रयुग या श्रौतकाल में विद्वान् दोनों ही प्रकार की भाषा बोलता था—दैवीभाषा (वैदिक-छान्दसी) और मानुषीवाक् (लौकिकसंस्कृत) जैसाकि स्वयं आपस्तम्ब ने कहा है—'अथ यजमानो व्रतमुपैति वाचं यच्छत्यनृतात् सत्यमुपैति मानुषाद् दैव्यमुपैमि दैवीं वाचं यच्छामि" (आ० श्रौ 5/2/8/1)

ऋग्वेद (4/100/11) में वेदवाणी को देवीवाक् कहा है—

"देवीं वाचयजनयन्त देवास्तां विश्वरूपां पशवो वदन्ति।"

यही तथ्य काठकसंहिता (14/5) में है—ये देव भौतिक प्राण, रश्मि, विद्युत् आदि पदार्थ हैं, ऋषि (गति), पितर भी देवों के साथ उत्पन्न हुये। प्राकृतिक शक्तियों की संज्ञा ही देव या आप[1] थी।

प्रजापति (महान् = बुद्धि) या वाचस्पति (स्वयम्भू = प्रकृति) से मन उत्पन्न हुआ और मन से वाक् उत्पन्न हुई। 'मनसा वाचमकृत।'[2] इस वैदिकसांख्यसिद्धान्तानुसार प्रकृति से बुद्धि, मन और अहंकार की उत्पत्ति हुई। इसी तथ्य को व्यास ने महाभारत शान्ति० 231 में कहा है कि अनादिनिधना नित्या वाक् की सृष्टि स्वयं (मन) ने की।[3] इसी देवीवाक् (वेदवाणी) से शतसहस्रपदों का प्रादुर्भाव हुआ। इन्द्र, आदित्य, विवस्वान्, कश्यप, अग्नि, वेन आदि मूल में किसी के नाम नहीं थे। मनुस्मृति इसी भाव को कहा गया है।[4] वृहद्देवता में शौनक ने इसी देवीवाक् को ब्राह्मी, सौरी और ससर्परी कहा है।[5]

अतिवाक्—प्रारम्भ में उपर्युक्त विधि से अतिवाक् की उत्पत्ति हुई, जिसकी शब्दराशि विपुल या अनन्त थी, इस अतिवाक् का एकांशमात्र वेदवाक् है, मूल प्राचीन अतिवाक् का विस्तृतरूप में कोई भी नहीं जान सकता, व्यर्थ की कल्पनाओं से कोई लाभ नहीं। वेद और निघण्टु में उस अतिवाक् का एक निदर्शनमात्र उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ निघण्टु में एक-एक पद के सौ से अधिक पर्यायवाची मिलते हैं, यथा

---

1. "आप एवेदमग्र आसुः। ता आप सत्यमसृजन्त। सत्यं ब्रह्म। ब्रह्म प्रजापतिम्, प्रजापतिर्देवान्। (बृ० उ० 5-5-1)।
2. ऋग्वेद (10-7-112
3. "अनादिनिधना नित्या वागुसृष्टा स्वयम्भुवा।
4. सर्वेषां तु के नामानि कर्माणि च पृथक-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥
5. तस्मै ब्राह्मीं तु सौरीं वा नाम्ना वाचं ससर्परीम्।
सूर्यक्षयाद् इहाहृत्य ददुस्ते जमदग्नयः॥ (बृहद्देवता 4-113)

वहाँ वाक् का एक पर्याय 'गल्दा' है जो वर्तमान भारतीयभाषाओं में सर्वथा अप्रचलित है। इस 'गल्दा (वाक्) का पर्याय योरेपियन और अँग्रेजी में एकमात्र शब्द लैंग्वेज (Language) है, जो 'गल्दा' पद का ही अपभ्रंशरूप है। अतः अतिभाषा में एक वस्तु या पदार्थ के अनेक पर्यायवाची पद थे, परन्तु अन्य उत्तरकालीन भाषाओं में उसका एक ही रूप अवशिष्ट रह गया, यथा अँग्रेजी में सूर्य के लिये सन (Sun) और चन्द्रमा के लिये मून (Moon) यह एक एक ही शब्द मिलते हैं। इसी अद्वितीय ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् (1/1/2) में इस प्रकार मिलता है—कि पृथिवीनिवासी पंचजनों (मनुष्यों) ने अतिभाषा का कौन-सा प्रयोग ग्रहण किया। 'हय' रूप देवों ने, 'अर्वा' असुरों ने, 'वाजी' गन्धर्वों ने और 'अश्व' यह रूप मनुष्यों (भारतीयों) ने ग्रहण किया।[1]

देवीवाक् और मानुषीवाक्– इसी अतिवाक् ने दो रूप हुये—देवीवाक् और मानुषीवाक्। वेद की छान्दसीभाषा को ही 'देवीवाक्' कहा जाता था, जिसकी शब्दानुपूर्वी नित्य और नियमित थी। आपस्तम्ब के पूर्ववर्ती यास्क ने भी इन भाषारूपों का उल्लेख किया है।[2] आपस्तम्ब और यास्क के समय में शिक्षितमनुष्य भाषा के दोनों रूपों को जानता था। यही तथ्य काठकसंहिता में भी कहा गया है—

'तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति दैवीं मानुषीं च।''
का० सं० (14/5)

मानुषीवाक् या लोकभाषा में शब्दराशि वही थी जो वेदवाक् में थी, केवल वह संकुचित थी तथा उसकी शब्दानुपूर्वी में अन्तर था। वेदवाक् का संस्कारपाठ-स्वरादि से संयुक्तरूप ही 'संस्कृत' कहलाया।[3] भरतमुनि ने इसी तथ्य को कहा है—

अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भूभुजाम्।
संस्कारपाठसंयुक्ता सप्तद्वीपप्रतिष्ठिता॥[4]

1. ''हय इति देवान् अर्वा इत्यसुरान्, वाजीति गन्धर्वान्, अश्व इति मनुष्यान्''
(बृ०उ० 1-1-2)।
2. तस्मात् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति।
या च देवानां या च मनुष्याणाम्'' (नि० 13-8)
3. स्वरसंस्कारौ सवर्णौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम् (नि० 1-12)
पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार शाकटायनः (नि० 1-13)
4. नाट्यशास्त्र (17-18-29)

"अतिभाषा (देवीवाक्) देवों की थीं और आयभाषा (संस्कृत) राजाओं की, जोकि संस्कारपाठ से संयुक्त होकर सप्तद्वीप में प्रतिष्ठित है।"

इस मानुषीवाक् या लौकिकसंस्कृत का विस्तार सप्तद्वीपा वसुमती (पृथिवी) पर था। इसी तथ्य को पतंजलि ने भी पुष्ट किया है—

सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः (महाभाष्य)।

लोकभाषा या मानुषीवाक् का संस्कृत नाम अतिप्राचीन था। यास्क ने यद्यपि 'संस्कृत' पद का प्रयोग भाषा के लिये नहीं किया, परन्तु उनके वचनों का भावार्थ यही है कि स्वरसंस्कारवती भाषा ही संस्कृत थी। आपस्तम्ब ने लौकिकीवाक्' शब्दों को प्रयोग संस्कृत के लिये ही किया है—

'मानुषाद् दैव्यमुपैमि आ० श्रौ० 5/2/8/1)

'लौकिक्या वाचा व्यावर्तते ब्रह्म' (आ० ध० 1/13/6/8)

वाल्मीकि रामायण में हमें मानुषीवाक्' और 'संस्कृत' पद एक ही भाषा के लिये प्रयुक्त मिलते हैं—[1]

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥
अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्॥

यास्क ने इसी लौकिकसंस्कृत को 'व्यावहारिकी' कहा है।[2] आपस्तम्ब के मत में दीक्षित यजमान केवल वेदवाक् का उच्चारण करता था, मानुषीवाक् (संस्कृत) का नहीं।[3]

म्लेच्छभाषा—(या दैत्यभाषा)—वैदिकग्रन्थों में म्लेच्छभाषा या आसुरी भाषा का बोलना निषिद्ध किया गया है। शुद्ध वेदवाक् या मानुषीवाक् (संस्कृत) पुनः लोक में अनेक कारणों से अशुद्ध, अपभ्रंश या म्लेच्छ[4] (अपशब्द) हुई। म्लेच्छ या आसुरीभाषा की उत्पत्ति के इतिहास के कथन से पूर्व निम्न शास्त्रवचनों का अवलोकन करना चाहिये, जिसके अनुसार हमें अंग्रेजी आदि अशुद्ध म्लेच्छभाषाओं का अध्ययन या सम्भाषण (बोलना) नहीं करना चाहिये—

(1) "तैः पुनरसुरैर्यज्ञे कर्मण्यपभाषितम्" (महाभाष्य)

(2) "तेऽसुरा आत्तवचसो हेऽलवो हेऽलवो इति वदन्तः पराबभूवुः
(श० ब्रा० 3/2/1/23)

(3) स म्लेच्छस्तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेद् असुर्या हैषा वाक्

(4) असुर्या वै वाग् अदेवजुष्टा (ऐ० ब्रा० 6/5)

---

1. वा० रा० (5-30-18-19)
2. ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकी (नि० 13-9)
3. न मानुषीं वाचं वदति (आं० श्रौ० 10·4-7)
4. म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः (भा० गृह्यसूत्र)
म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः (महाभाष्य)

(5) 'नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभि:' (भीष्मपर्व)

(6) न म्लेच्छभाषां शिक्षेत (भार० गृह्य०)

पौण्ड्रकश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे दस्यवः स्मृताः ।।

मनुस्मृति के अनुसार पौण्ड्रक, चोल, काम्बोज (ईरानी) द्रविड, यवन' (यूनानी) शक आदि म्लेच्छभाषी थे। वे भाषा के अशुद्धप्रयोग के कारण म्लेच्छ या दस्यु कहलाये[1]—

पतञ्जलि ने लिखा हैं कि एक ही 'गौ' शब्द के गौणी, गोता, गोपोतालिका', इत्यादि बहुत से अपभ्रंश बन गये। इसी प्रकार आंग्लभाषा में गौ का रूप हुआ 'काउ' (Cow) यहाँ गकार का 'ककार' हो गया, शेष रूप प्रायः वही है। यह रूप रोमनलिपि की अपूर्णता के कारण है क्योंकि ब्राह्मीलिपि के 64 अक्षर रोमन के 22 अक्षरों से किसी प्रकार भी उच्चरित नहीं हो सकते। इसी लिपिदोष के कारण संस्कृत के 'चरित्र' और 'समिति' शब्दों के अंग्रजी में ये विकृत (अपभ्रंश) रूप हुये—

करेक्टर (Character=चरित्र)

कमेटी (Committee=समिति)

इस प्रकार के बहुत से उदाहरण दिये सकते हैं।

अब आगे, संसार की कुछ प्रमुखभाषाओं का मूलोद्भव एवं इतिहास प्रदर्शित करते हैं।

यद्यपि विश्व की समस्त भाषायें पूर्वोक्त एक ही अतिभाषा से समुद्भूत हुई हैं, तथापि इस समय भारतीय और योरोपीय भाषाओं की शब्दराशि में सर्वाधिक साम्य है, इसी कारण उन्नींसवीं शती के प्रारम्भ में योरोपियनलेखकों ने पराधीन भारत के इतिहास में अनेक ऊँटपटाँग और ऊलजलूल भ्रष्ट कल्पनायें कीं कि भारतीय आर्य जाति और योरेपियन जातियाँ कभी पुरातनकाल में मध्यएशिया या योरोप के किसी भाग में रहती थीं। तत्परिणामस्वरूप पाश्चात्यों ने एक काल्पनिक इण्डोयोरोपियन भाषा की कल्पना की। तन्मतानुसार योरोप या मध्य एशिया से आर्य भारतवर्ष में ईसा से लगभग 1500 वर्ष पूर्व[2] प्रविष्ट एवं उपनिविष्ट हुये। इसी प्रकार की विपुल निराधार कल्पनायें भाषासाम्य के अाधार पर पाश्चात्यों ने कीं। परन्तु पाश्चात्यों ने यह उल्टी गंगा राजनीतिक कारणों एवं षड्यन्त्र के कारण बहाई। तथ्य इसके ठीक विपरोत है। भारतवर्ष से निष्कासित दैत्य बलि, शण्ड मर्क और शुक्राचार्य के नेतृत्व में योरोप के देशों में कब और कहाँ बसे, यह तथ्य यहाँ प्रदर्शित किया जाता है।

1. मनुस्मृति, अ० 10;
2. भारतीय सत्य इतिहास के अनुसार 1500 ई० पू० भारत में नन्दराजाओं का राज्य था।

भारत से दैत्यपलायन का समय—सप्तम त्रेतायुग (12000 वि० पू०)—जिन इंगलैंडवासी अंग्रेजों ने भारतवर्ष पर अठारवींशती में साम्राज्य स्थापित किया ओर भारत का ऊँटपटाँग इतिहास लिखा, उन्हें पता नहीं कि उन अंग्रेजों के पूर्वज बलि, शण्ड, मर्क, निकुम्भ आदि असुर दैत्यों (Tetons) का निवास पहिले भारतवर्ष में ही था, और उनके ये आदिपूर्वज बलि आदि असुर कश्यपपुत्र वामन विष्णु द्वारा भारत से निष्कासित किये गये थे।

पुराणों में भारतीय इतिहास के 28 या 30 युगों का उल्लेख मिलता है, तीसवें युग में पाराशर्य व्यास, कृष्ण और पाण्डवों का जन्म हुआ। ये पाण्डवादि 3044 वि० पू० परलोकगमन कर गये थे। 30 युगों में प्रत्येक युग 360 वर्ष का था। ऐसे 30 युग प्रजापति दक्ष और कश्यप से युधिष्ठिरपर्यन्त व्यतीत हुये।

सप्तमयुग (12000 वि० पू०) में सप्तम व्यास ब्राह्मण इन्द्र का जन्म हुआ। अपने वैमातृजवन्धुओं से युद्ध करने के कारण इन्द्र क्षत्रिय हो गया। सप्तमयुग के अन्त में कश्यपपुत्र और इन्द्र के अनुज वामन विष्णु का जन्म हुआ। विष्णु के जन्म के समय तक भारत पर असुरदैत्यों का प्रभूत्व था—

"असुराणां वा इयं पृथिवी आसीत्" (काठकसंहिता)
दितिस्त्वजनयत् पुत्रान् दैत्यांस्तात यशस्विनः।
तेषामियं वसुमती पुरासीत् सवनार्णवा।। (रा० 3/14/15)

"कश्यपपत्नी दिति ने यशस्वी दैत्यसंज्ञक पुत्रों को उत्पन्न किया। प्राचीन काल में, वन, पर्वत और समुद्रसहित सम्पूर्ण पृथिवी पर उनका अधिकार था।" यह घटना पृथु वैन्य से प्रायः एक सहस्र पश्चात् और वैवस्वतमनु से एक दो शती पूर्व की है।

सप्तमयुग के अन्त में वामन विष्णु ने बलि को भारतवर्ष से निष्कासित करके पाताल (योरोपीय समुद्रतट) में भेज दिया।[1] इसी समय भारतवर्ष में असुरों का राज्य समाप्त हो गया और यहाँ देवेन्द्र का राज्य स्थापित हुआ। यह देवासुर युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी। यद्यपि दैत्य असुर योरोपीयभूमि पर पहिले भी अस्थायीरूप से रहते थे, इस समय वे स्थायीरूप में उपनिविष्ट हो गये।

अतः योरोप में दैत्यनिवास न्यूनतम 14000 (चौदह सहस्र) पुराना है। वर्तमान योरोप की जर्मन, डच, फ्रेंच और अँग्रेजी इत्यादि भाषायें उन्हीं प्राचीन दैत्य-भाषाओं के विकृत और आधुनिकरूप है। इनकी मूल दैत्यभाषा भी उतनी ही प्राचीन थी।

---

1. बलिसंस्थेषु लोकेषुत्रेतायां सप्तमेयुगे।
दैत्यैस्त्रैलोक्याक्रान्ते तृतीयो वामनोऽभवत्।। (वायु०)

इसीलिये अंग्रेजी आदि भाषाओं के अनेक पद लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वेदभाषा के पदों से अधिक साम्य रखते हैं यथा—

मैन (Man)=मनु=मनुष्
सन (Son)=सुनु
डॉटर (Daughter)=दुहिता
सेवेन्थ=(Sevnth)=सप्तथ
फिफ्थ (Fifth)=पञ्चथ

योरोप के देशों को भारतीय दैत्यों ने बसाया, इसका दूसरा अकाट्य प्रमाण है, योरोप के देशों एवं स्थानों के नाम दैत्यपुरुषों के नाम पर हैं—यथा—

दानवमर्क=डेनमार्क (Denmark)
षण्डदानव=स्केण्डेनिविया (Scandaniavia)
दैत्य=डच=(Dutch)
दैत्य=डीट्श (लैंड)=जर्मन
कालकेय=केल्ट=(Kelt)
दनायु=डेन्यूव=(Danube) नदी
असुर=असीरिया (Assyria)
बलदैत्य=बेलजियम
पणि=फिनिश (Finishian)
श्वेतदानव=स्वीडन=Sweden
श्वेत=स्विज
निकुम्भ=नीमिख=म्युनिख
दैत्य=टीटन (Titon)
गाथ=गाथिक (जर्मन)
वज्रनाभ=ब्रेझनेव=(Brejnev)
श्वेतदानव=स्विज्
रसा=रंहा (ईराक)
वक्षु=ओक्सस (नदी)
कश्यप=कैस्पियन, इत्यादि

पारसी या ईरानीभाषा के सम्बन्ध में किसी को सन्देह ही नहीं कि वह संस्कृत (अतिवाक्) से समुद्भूत एवं उसकी विकृतिमात्र है पारसी धर्मग्रन्थ जेन्द-अवेस्ता और वेद की भाषा और धार्मिक विचारों में कितना साम्य है, यह इतिहास-विदों को ज्ञात ही है, अत: भाषासाम्य के उदाहरण देना निरर्थक है।

रूस के वर्तमान निवासी प्राचीन दानवों के वंशज हैं, उनकी भाषा और संस्कृत में अत्यन्त साम्य है, रूसीनाम आजतक असुरपरम्परा पर रखे जाते हैं। वर्तमानरूसी शासकों के नाम किस प्रकार संस्कृत से साम्य रखते हैं, इसके केवल चार उदाहरण पर्याप्त होंगे—

बज्रनाभ (असुर)	=ब्रेझनेव
काशिजन	=कासिगन
ग्राम्यग	=ग्राम्यको
स्फूर्तसेवा	=फुर्तसेवा

प्राचीनकाल में बज्रनाभ नाम के अनेक असुर हो चुके हैं, इनमें एक महाभारतकाल में था, जिसको प्रद्युम्न आदि ने नटरूप धारणकर 'रामायण' नाटक प्रदर्शित किया था।

प्राचीन ग्रीक और लैटिनभाषाओं की शब्दराशि संस्कृत का ही विकार है। यूनानियों की जातियां आयोनियन और डेरियन क्रमशः ययातिपुत्र अनु, द्रह्यु की वंशज थीं। इतिहासकार हेरोडोट्स का शुद्ध नाम 'हरदत्त' था।

मिश्र की नीलनदी आदि नाम एवं देवनाम 'रे' (रवि) आदि भारतीय संस्कृत में ही थे।

अरब (गन्धर्व) वरुण की सन्तान थे। ये घोड़े को अर्वा (अर्वन्) कहते थे, अतः अरब कहलाये। प्राचीनवैदिकयज्ञों की 'इडा' आज भी इनमें 'ईद' के रूप में, 'नमः' 'नमाज', 'आत्मभू' 'आदम', अम्बा 'अब्बा' 'याद' 'ताज' जुहोति 'जुहा' जैसे शब्दरूपों में सुरक्षित है।

'चीन' का (प्राचीन) नाम संस्कृत है। चीन में 'माओ' नाम बहुत प्रसिद्ध है, जो प्रसिद्ध शतमायो महासुर 'मय' के अनुकरण पर है।

इसी प्रकार अन्य देशों की प्राचीन भाषाओं के उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि सभी भाषाओं का मूल एक ही अतिवाक थी, जिसका प्राचीनतमरूप वेदवाक् में सुरक्षित है।

आपस्तम्ब की भाषा—आचार्य ने प्राचींनभाषा के उभयविधरूपों का प्रयोग अपने 'कल्पसूत्र' में किया है—देवीवाक् वेदवाक्रूपी और मानुषीवाक् (लौकिकी भाषा-संस्कृत)

गार्बेप्रभृति पाश्चात्यविद्वानों के मत इस सम्बन्ध में भ्रामक हैं कि सूत्रकार ने

प्राकृतभाषा या अपशब्दों का प्रयोग किया है ।1 इस पाश्चात्यमत में न केवल महती भ्रान्ति बल्कि अज्ञान भी समाहित है, 'व्यास, याज्ञवल्क्य, वैशम्पायन, कात्यायन आपस्तम्ब आदि असंस्कृतज्ञ, अमनीषी थे, वे चारणभाटों के समान अर्ध-पठित थे, यह कथन प्रमत्तप्रलाप के सिवाय क्या हों सकता है, यह वैदुष्य का प्रमाण नहीं है । व्यास, वाजसनेय याज्ञवल्क्य, बौधायन और आपस्तम्ब आदि के लिये पाणिनिव्याकरण क्या प्रमाण हो सकता है । पाणिनि से पूर्व बृहस्पति, इन्द्र, वायु, (मातरिश्वा), काश्यप, गालव, नारद, शिव, शाकटायन, गार्ग्य, बाभ्रव्य जैसे सैकड़ों वैयाकरण हो चुके थे । इन वैयाकरणों के सम्मुख पाणिनिव्याकरण गोष्पद के समान था।—

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात् ।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ।। (देवबोध)

अत: व्यास या आपस्तम्ब के शब्दप्रयोग पाणिनिव्याकरण के नियमानुसार हों हों यह आवश्यक नहीं है । ऐसा मत केवल इतिहासानभिज्ञ व्यक्ति का ही हो सकता है । पाणिनिसे पूर्व शतश: वैयाकरण हो चुके थे, उनके व्याकरणों को पढ़कर ही व्यासादि विद्वान् हुये, अत: प्राक्पाणिनिग्रन्थों के लिये पाणिनि की अष्टाध्यायी कोई प्रमाण नहीं है ।

---

1. It is well known that in the Sraut Sutras in general, a stage of development of Indian language has been reached, which on the whole, is in accordance with classical Sanskrit, grammar........., but, on enternity into detail, there are plenty of differences, as, on the one hand, numerous Vedic words and forms are still in use, not existing in classical Sanskrit, whilst, on the other hand, Prakritisims and perfect solecisms are obvious. Late Proffessor Buhler was certainly right in explaining the latter Phenomenon (Journal of the German oriental Society Vol. XL p. 705) by characterising the authors of rituals and Dharma Sutras in the following way "all of these men were yajnikas, whose literary education, according to Paraskar Grihya Sutra (2.6.8) in ancient times used to be quite as defficient as in later times. All those of them whose works come down to us, be long to a time when Prakrit dialect were in general use in daily intercourse and as official languages throughout the whole of India. It is, therefore, not surprising that their work.........contain numerous "Apashabdas" (अपशब्दा:) that is to say, words, forms and constructions not allowed by the rules of the Vaiyakaranas. आपस्तम्बश्रौतसूत्रभूमिका पृ. V)

अतः कल्पसूत्रादि में प्राकृत, म्लेच्छ या अपशब्द नहीं हैं हमको इन ग्रन्थों में स्वरसंस्कारवती शुद्धशब्दानुपूर्वी उपलब्ध होती है। अत बूहलर, वाकरनागल[1] गार्वे आदि पाश्चात्यों के मत अज्ञानमूलक एवं भ्रामक है। इसमें संशय के लिये कोई स्थान ही नहीं है। कौन हतबुद्धि, व्यास, वैशम्पायन, वाजसनेय और आपस्तम्ब को पांडित्यहीन, चारणतुल्य, अर्धपठित मानेगा, फिर विद्वान् और पठित कौन होगा, जबकि व्यास समस्त पुरोहितों और ऋत्विजों में सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे तथा उनके शिष्य प्रशिष्य वैशम्पायन, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, बौधायन आदि भी तत्तुल्य विद्वान् थे —

ऋत्विक्समो नास्ति लोकेषु चैव।
द्वैपायनेनेति विनिश्चितं मे।
एतस्य शिष्याः क्षितिमाचरन्ति।
सर्वर्त्विजः कर्मसु स्वेषु दक्षाः॥

(महाभारत 1/55/9)

"लोकों में कृष्णद्वैपायन के समान विद्वान् पुरोहित कोई दूसरा नहीं है, यह मेरा निश्चित मत है, इनके शिष्य अपने कार्यों में कुशल है, जो सम्पूर्ण पृथिवी पर विचरण करते हैं।"

अतः सूत्रकारों के ग्रन्थों में प्राकृतशब्द या अपशब्द नहीं हैं। अतः सूत्रकारों ने देवीवाक् और मानुषीसंस्कृतवाक् का प्रयोग ही अपने ग्रन्थों में किया है। आपस्तम्ब ने छान्दसी वेदवाक् का प्रयोग भी कल्पसूत्र में यत्रतत्र किया है— यथा—

"द्वादशाहेन प्रैव जायतेऽभि स्वर्गं लोकं जयत्येषु लोकेषु प्रतितिष्ठति"

(आ श्रौ० 21/1/1)

तथापि ऐसा मानना उचित है कि सूत्रयुग में छान्दसीभाषा लोक में अप्रचलित थी, केवल विद्वानों में प्रचलित थी। आपस्तम्बादिपूर्वब्राह्मणग्रन्थों में इतिहासपुराणों के समान लौकिकभाषा में श्लोक एवं गाथायें मिलती है। यह भाषाभेद विषयभेद के कारण ही था।[2] अतः मन्त्रनिर्माणकाल, ब्राह्मणनिर्माणकाल

1. तुलना—Their source is to be traced to the traditional recitations of Bards who were not priests nor scholors. Therein language is thus naturally more popular in character and less regular than classical Sunskrit (wackernagal : (Atlind grammar, (Vol I.p. XIV).
1. वात्स्यायन का प्रमाण है—"द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुपपत्तिः। य एव मन्त्र ब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्येति। विषयव्यवस्थापनाच्च यथाविषयं प्रमाणम्। यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्त-मितिहासपुराणस्य लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः। (न्यायभाष्य)

में छान्दसी और लौकिक दोनों ही भाषायें प्रचलित थीं, इस दृष्टि से मन्त्रयुग या सूत्र युग जैसे युग इतिहास में काल्पनिक ठहरते हैं। विवश विन्टरनीत्स को मानना पड़ा–

"We find in Aitareya Brahmana an Akhyana in which the Gathas or Verses scattered among the prose approach the epic language as well in meter (I.L. Vol I p. 211).

इससे सिद्ध है कि वैदिकयुग या ब्राह्मणरचनाकाल पुराणों से पहिले नहीं था, वरन् इतिहापुराण, लोकभाषा में पहिले लिखे गये और ब्राह्मणग्रन्थ वेदभाषा में, बाद में लिखे गये। यदि पुराण पहिले न रचे जाते तो वे शतपथब्राह्मण या आपस्तम्बधर्मसूत्र में कैसे उद्धृत किये जाते। और तो और, भविष्यत्पुराण, जिसको पाश्चात्य लेखक अर्वाचीतम और भ्रष्ट (क्षेपकयुक्त) रचना मानते हैं, उसके श्लोक, नामोल्लेखपूर्वक आपस्तम्ब ने धर्मसूत्र में उद्धृत किये हैं।

आचार्य आपस्तम्ब ने कल्पसूत्र में प्रायेण लौकिकी संस्कृतभाषा का ही प्रयोग किया है, जो इतिहासपुराणों की भाषा के ही तुल्य हैं, कहीं-कहीं ब्राह्मणग्रन्थसदृश वैदिकभाषा का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है—यथा—

'कृत्तिकासु ब्राह्मण आदधीत, मुख्यो ब्रह्मवर्चसी भवति'

(आ० श्रौ० 5}3/2)

"द्वादशहेन प्रैव जायतेऽभि स्वगं लोकं जयत्येषु लोकेषु प्रतितिष्ठति"

(आ श्रौ० 21/1/1)

महाभारतसदृश भाषाप्रयोग द्रष्टव्य है—

वर्तमानशब्दरूप	**आपस्तम्बप्रयुक्त शब्दरूप**
(1) अभिचारः	(2) अभीचारः (आ० ध० 1/1०/29)
(2) परिणाहः	(2) परीणाहः (आ० श्रौ० 1/5)
(3) प्रतिघातः	(3) प्रतीघातः (आ० श्रौ० 2/2/1)
(4) यथकथंचित्	(4) यथाकथा (आ० ध० 08/1)
(5) दाराभिः	(5) दारेण (आ० श्रौ० 1/2/7)

आचार्य ने 'लुनाति' 'श्ना' प्रत्यय के प्रयोग के स्थान पर 'लुनोति, 'श्नु' प्रत्यय प्रयोग भी किये हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों में षष्ट्यर्थमें चतुर्थीप्रयोग प्रायेण मिलता है, आपस्तम्ब ने भी वैसे ही प्रयोग किया है—

दक्षिणायै	(आ० श्रौ० 2/8/3)
रात्रियै	(आ० श्रौ० 15/12/7)
उत्तरायै	(आ० श्रौ० 16/19/7)
अश्वत्थशाखायै	(आ० श्रौ० 18/11/2)

मन्त्र और ब्राह्मणसदृश नकारान्त प्रातिपदिक सप्तमीविभक्ति में इस प्रकार मिलते हैं—

अहन् (आ० श्रौ० 1/2/1)=अहनि
आसन् (आ० श्रौ० 6/3/16)=आसनि
आत्मन् (आ० श्रौ० 6/28/1०)=आत्मनि
वर्त्मन् (आ० श्रौ० 2/3/13)=वर्त्मनि
शीर्षन् (आ० श्रौ० 1/4/15)=शीर्षणि

कुछ विशिष्ट धातुरूप, आपस्तम्ब द्वारा प्रयुक्त द्रष्टव्य है—

तथा 'देयात्' या दद्यात् लिङ्लकार के लिये 'दयीत' (आ० श्रौ० 5/125/18), प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार—

प्रक्षालयीत
अभिप्रसारयीत
अपसारयीत, जैसे प्रयोग मिलते हैं।

कर्मप्रवचीय प्रयोग इस प्रकार के मिलते हैं—

अणिकाषम् (आ० श्रौ० 2/11/3)
अनवानम् (आ० श्रौ० 24/11/7)
अनुपरिक्राम् (आ० श्रौ० 2/13/1)
अनुपरिचारम् (आ० श्रौ० 17/11/3
अनुपरिहारम् (आ० श्रौ० 171/5)

मन्त्रब्राह्मण के समान आपस्तम्ब ने अनिर्बद्ध[1] उपसर्गों का प्रयोग किया है। यथा—

"अभि वा मन्त्रयेत्" ।[2]
'अभि च गर्हयते ।'[3]
'प्रैव जायन्ते ।[4]

---

1. न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहुरिति शाकटायनः। उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। तद् य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम्। (निरुक्त 1-3)
2. आ श्रौ० (9-5-1)।
3. आ० श्रौ० (9-6-11)।
4. आ० श्रौ० (23-2-9)।
तुलनीय—तेदेषाभियज्ञगाथा गीयते (ऐ० ब्रा० 8=21)
तदेतद् गाथयाऽभिगीतम (श० ब्रा० 1-3-5-4-2)

'विपाप्मा भ्रातृव्येण वर्तन्ते'[1]
अभि स्वर्ग लोकं जयन्ति,[2]

गार्बे ने 'दुर्वराहैडक'[3] पद में अनियमितसन्धि का उदाहरण बताया है। परन्तु ऐसी बात नहीं है पूर्वाचार्यवैयाकरण के नियमानुसार यह साधुप्रयोग है, वह आर्षप्रयोग व्याकरणसम्मत है।

इसी प्रकार पाश्चात्यलेखकगण आपस्तम्बसूत्रों में प्राकृतभाषा का प्रभाव बतलाते हैं।[4] परन्तु उनकी अनुसन्धानपद्धति प्रामाणिक नहीं हैं दूषित है। यह विचाणीय है कि आपस्तम्बादिसूत्रकार पाणिनि से पूर्व हुये, उनके लिये पाणिनि-व्याकरण के नियम किस प्रकार लागू हो सकते हैं। आपस्तम्ब ने गालव, भारद्वाज, शाकटायन, काश्यप आदि के व्याकरणशास्त्रों का अध्ययन किया था, उन्होंने उन्हीं व्याकरणों के नियमानुसार शब्दप्रयोग किया, फिर उनमें प्राकृतपदप्रयोग देखना न तो बुद्धिमानी है और न बुद्धिगम्य। यह पाश्चात्यमत असत्य है।

यदि कहीं आचार्य ने 'णत्व' का प्रयोग किया तो वह प्राकृतप्रभाव नहीं है। प्रातिशाख्यों एवं अष्टाध्यायी में वैदिक एवं लौकिकसंस्कृतपदों के लिये 'णत्व' विधान मिलता है, यथा वाजसनेयशाखा में 'रथवाहन' के स्थान पर 'रथवाहण' प्रयोग विहित है। परन्तु आपस्तम्ब ने 'रथवाहन' प्रयोग ही किया है। आपस्तम्ब के निम्न शब्दों में 'णत्व' विशेषतः प्रयुक्त हुआ है—

अनुलेपणम्	(आ० ध० 1-3-1-13)
अणिकाषम्	(आ० श्रौ 2-11-3)
व्यषण्वा	(आ० श्रौ० 16-13-6)

यह 'णत्व' प्रयोग छान्दस (वैदिक) है न कि प्राकृतभाषा का लक्षण, यही मन्तव्य है।

गार्बे आपस्तम्बश्रौतसूत्र 19-3-12 में प्रयुक्त 'घोट' पद को प्राकृतभाषा का मानते हैं और उसकी तुलना हिन्दीभाषा के बहुप्रचलित 'घोड़ा शब्द से करते

---

1. आ० श्रौ० (23-7-1)
2. आ० श्रौ० (22-9-1)
3. आ श्रौ० (8-10-15)
4. Proff. Buhler, in the introduction to his translation of the Apastamba Dharma Sutra (Sacred book II, pp. XL-XLII) has analysed the linguistic pecularities and grammatical irregularities, that is to say, derivation from Panini's rules of this work ; and ofter him the same was done by Dr. Winternitz in regard to the App. Gr. Sutra. Phil. Hist. (Trans of Vienna. Academy, XL p. 13-17).

हैं। इसी प्रकार 'तम्बलवीणा' (आ० श्रौ० 29-17-16) शब्द को तमिलभाषा का मानते हैं, जो कि हिन्दीभाषा में 'तबला' रूप में मिलता है। इस सम्बन्ध में गार्बे साहब ने 'किट्टेल' का मत उदाहृत किया है—

Hindi word 'Ghora' by an author of Apastamba's time is rather surprising, Tambala in Tambal Vina occuring twice has been borrowed from Dravidian. According to a communication of Dr. F. Kittel, the reputed kanarese scholor, the word Tambal comes from Kanarese (कन्नड़). In this language Tambala or Tambala means Tamil Tambale Vina, is therefore, "a Tamil Guitar" (App. SS. Int. p. VIII Vol. 3).

गार्बे और किट्टल के उपर्युक्त मत संदेहास्पद किंवा भ्रामक है। 'घोट' पद प्राकृत या हिन्दी ही है, इसका कोई आधार नहीं, तम्बलवीणा का कन्नड़ तम्बल से ही सम्बन्ध और इसका मूल तमिलभाषा है, इसमें कोई प्रमाण नहीं। ये शब्द संस्कृत से ही तमिल कन्नड़ और हिन्दी में विकृतरूप में हो गये और यही तार्किक एवं समुचित समाधान है।

आपस्तम्ब ने कल्पसूत्र में अनेक छान्दस या अनवगमत्वपद मिलते हैं, इनके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

अजगाव:
दृशीकु:
मरायु:
मसूस्य
हिम्बिनी
हिल्ल:
हिल्लुका
चनसित
अपघाटलिका

आपस्तम्ब ने श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र में अनेक लौकिकगाथायें उद्धृतकीं जो जनभाषा (संस्कृत) में हैं, (इनमें अनेक शब्द लोकभाषा या जनभाषा के प्रतीत होते हैं)—

गाव एव सुरभयो गावो गुल्गुलगन्धयः ।
गावो घृतस्य मातरस्त इह सन्तु भूयसीः ।
ननु गावो मङ्कीरस्य गङ्गाया उदकं पपुः ।
पपुः सरस्वतीं नदीं प्राचीश्चोज्जगाहिरे ॥

(आ० श्रौ० 21-20-3)

यौगन्धरिरित्येव नो राजेति साल्वीरवादिषु।
विवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तव।
सोम एव नो राजेत्याहुर्ब्राह्मणीः प्रजाः।
विवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेणासौ तव।

(आ० गृह्यमन्त्रपाठ 2-11-12-13)

सम्भोजनी नाम पिशाचविद्या नैषा पितॄन् गच्छति नोऽथ देवान्।
इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टवत्सा।

(आ० ध० 2-7-17-8)

मूलं तूलं वृहति दुर्विवक्तुः प्रजां पशूनायतनं हिनस्ति।
धर्मप्रह्लाद न कुमालनाय।
रुदन् ह मृत्युर्व्युवाच प्रश्नम्॥

(धर्मसूत्र 1-11-32-14)

उपर्युक्त विवरण से आपस्तम्बकल्पसूत्र की भाषा का कुछ आभास हो जायेगा।

अध्याय—द्वितीय

आपस्तम्बकल्प में यज्ञपरिभाषा

आचार्य आपस्तम्ब ने कल्पसूत्र के चौबीसवें अध्याय 'यज्ञपरिभाषापाठ' में न्याय (मीमांसा), प्रवर और हौत्रक[1] पर विचार किया है'। कुछ आचार्यों के मत में यह कल्पसूत्र का प्रथम अध्याय होना चाहिये। कल्पसूत्र के सम्पादक गार्वे महोदय इस प्रश्न को समग्ररूप से प्रक्षिप्त मानते थे।, यह मत सर्वथा अनुचित एवं असत्य है, क्योंकि सभी श्रौतसूत्रों के प्रथम अध्यायों में परिभाषायें प्रथम अध्याय में मिलती हैं, अतः आपस्तम्बकृत यज्ञपरिभाषायें भी स्वयं उनकी रची हुई है, केवल उनकी अध्यायसंख्याक्रम पर मतभेद हो सकता है।

इस अध्याय में आचार्य आपस्तम्ब ने निम्नप्रकरणों पर नियम बनाये हैं—

(1) यज्ञाधिकार
(2) मन्त्रस्वरविधान
(3) आर्त्विज्य
(4) मन्त्रब्राह्मणलक्षण
(5) मन्त्रविनियोगविधि
(6) यज्ञाङ्गविचार
(7) यज्ञप्रकृति
(8) प्रतिनिधिविचार
(9) सोमयागप्रकृति
(10) यज्ञाग्निविचार
(11) प्रवरकल्प

यज्ञाधिकार—(मीमांसा)—यज्ञ करने का किसको अधिकार है, कौन इसको कर सकता है, इस पर सभी कल्पसूत्रकारों ने नियम बनाये हैं। आचार्य आपस्तम्ब

---

1. Whilst in above cases later interpolations of limited extent are in quetion, I, now, have state a very considerable interpolation in as much as the entire Prashn XXIV can be proved to have been inserted by a later hand. (Preface. p. XIV).

के मतानुसार केवल ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय) और वैश्य इन तीन वर्णों को ही यज्ञ करने का अधिकार है।[1] कुछ आचार्यों के मत में निषाद और स्थपति (सूत) को गावेधुकयज्ञ करने का अधिकार था। ब्राह्मणग्रन्थों के मत में श्वा (कुत्ता) श्येन, सर्प, वनस्पति, गाय, देव आदि भी यज्ञ करने के अधिकारी हैं।[2] किन्तु ये वाक्य विधि प्ररोचनार्थ ही हैं, ऐसा यज्ञाचार्यों का मत था।

शूद्रवर्ण के यज्ञाधिकार के सम्बन्ध में कल्पसूत्रकारों में मतभेद थे। इससे पूर्व ब्राह्मणग्रन्थों एवं मन्त्रों में शूद्र का यज्ञाधिकार विहित था। शातपथीश्रुति (11-1-4-12) के अनुसार शुद्र यज्ञानुष्ठान में भी भागीदार होते थे।[3] ऐतरेयब्राह्मण में इतिहास मिलता है कि दासीपुत्र कवष ऐलूष ने यज्ञानुष्ठान किये थे।[4] स्वयं ऐतरेय महीदास दासीपुत्र होते हुये भी महान याज्ञिक एवं ऐतरेयब्राह्मण के रचयिता हुये। इसी प्रकार शूद्रा जाबाला पुत्र सत्यकाम जाबाल महान् दार्शनिक और उपनिषद् वेत्ता हुआ।[5] अत: शूद्रवर्ण महाभारतयुगतक यज्ञ में कुछ-कुछ भाग लेता था। तदुपरान्त सूत्रकारों ने शूद्र के लिये यज्ञ करना निषिद्ध कर दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत में वेदवाणी पर सभी वर्णों एवं चारण आदि का भी अधिकार था, प्रमाणस्वरूप, उन्होंने शुक्लयजुर्वेद से मन्त्र उद्धृत किया है—

ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय स्वाय चारणाय।।[6]

अत: कृतयुगादि में न तो वर्णव्यवस्था स्थिर थी और न शूद्र के लिये यज्ञानुष्ठान या वेदाध्ययन निषिद्ध था।

कृतयुग, त्रेता एवं द्वापर के प्रारम्भ तक चातुर्वर्ण्यव्यवस्था पर्याप्त शिशिल थी, वह गुण और कर्मों के आधार थी, जन्म के आधार पर नहीं। सूत्रकारों ने जन्मना चातुर्ण्वर्ण्यव्यवस्था को पूर्णत स्थिर बनाया और सड़ाँध पैदा कर दी। यदि जड़बुद्धि श्रमिक आदि के लिये विद्याध्ययन निषिद्ध हो तो वह बुद्धिगम्य हो सकता है, परतु केवल जन्म के कारण कुशाग्रबुद्धि व्यक्ति को भी नरकतुल्य सामाजिक अपमान सहना पड़े, यह पापीयसी सामाजिक व्यवस्था भारतवर्ष में अभी तक बनी

---

1. सं त्रयाणां वर्णानां ब्राह्मणराजन्ययो:वैश्यस्य च' (आ० औ० 24-1-12)
2. देवा ह वै सत्रमासत (श० ब्रा 4-6-5-1)
   सर्पा: सत्रमासत, वनस्पतय: सत्रमासत (पञ्चविंशब्राह्मण 4-1)
3. 'आधावेति शूद्रस्य'।
4. ऐ० ब्रा० (8-1-1-19)
5. छा० उ० (4-4-)
6. शु० यजु० 26-2)

हुई है, अन्य किसी देश में इसका सर्वथा अभाव है। जैमिनि का भी शूद्र के लियें यज्ञनिषेध का यही भाव था कि अविद्वान् यज्ञ में भाग न ले—

अवैद्यत्वादभावः कर्मणिस्यात् (मी० सू० 6-27)

सूत्रकारों ने यज्ञानुष्ठान या अग्न्याधान में [1]रथकार (बढ़ई) का अधिकार विहित किया है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'रथकार' त्रैवर्णिकों में से एक है, अथवा वह शूद्र है अथवा रथकरण (बनाने) से 'रथकार' कहा जाता है। शूद्र तो अग्न्याधान के लिये निषिद्ध था। रथकार के यज्ञाधिकार विवेचन के साथ इनकी उत्पत्ति का इतिहास जानना आवश्यक है। मनुस्मृति में 'रथकार' को सुधन्वाचार्य कहा गया है।[2] अतः मनूक्त सुधन्वाचार्य व्रात्यवैश्यपुत्र होता था। ये सौधन्वान भृगुवंशीय थे, जो शिल्पनैपुण्य के लिये विख्यात थे। इस सम्बन्ध में भाष्यकारों द्वारा रथकार, सौधन्वन और ऋभु शब्दों के व्याख्यान भ्रामक हैं, वे सत्य प्रतीत नहीं होते। इन शब्दों की उचित व्याख्या के लिये इतिहास ही हमारी शरण है। भारतीय इतिहास में भृवङ्गिरस ऋषियों का अभूतपूर्व योगदान रहा है, यह विदित तथ्य है, भृगु के वंश में सुधन्वा नाम के ऋषि हुये, जो दैत्येन्द्र प्रह्लाद के समानकालिक थे।[3] इन सुधन्वा ऋषि के तीन पुत्र हुए—ऋभु, विम्वा और वाज।[4] इन्हीं ऋभु आदि ने त्वष्टा आदित्य से शिल्पकर्म सीखा और वे महान् शिल्पी वन गये। ऋग्वेद के मन्त्रों में भी इन ऋभुओं के शिल्पनैपुण्य की महान् प्रशंसा है। वे ऋभुगण शिल्पकला के कारण, अमृतपद (देवत्व) को प्राप्त हुये—

मर्तास सन्तो अमृत्वत्वमानशुः।
सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः॥

(ऋ० 1-101-4)

---

1. आ० श्रौ० 5-1-3-18);
2. व्रात्यात्तु जायेत वैश्यात् सुधन्वाचार्य एव च। (म० स्मृ० 10-23)
   तथा जैमिनिसूत्र है "सौधन्वानास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात् प्रतीयेरन्।
   (मी सू० 6-150)
3. द्र० महाभारत उद्योगपर्व अध्याय 25।
4. सुधन्वन आङ्गिरसस्यासन् पुत्रास्त्रयः पुरा।
   ऋभुर्विभ्वा वाजश्च शिष्यास्त्वष्टुश्चतेऽभवन्।
   शिक्षयामास तांस्त्वष्टा त्वाष्ट्रं यत्कर्मकिञ्चन॥
   (बृहद्देवता 3-83-84)
   तथा द्रष्टव्य निरुक्त (11-16)।

इन्होंने इन्द्र के लिये दो हरी (घोड़े) बनाये, जिससे उन्हें अमरत्व प्राप्त हुआ ।[1]

त्वष्टा के लिये ऋभुओं ने एक चमस से चार चमच बनाये ।[2]

अतः शिल्पी (बढ़ई) सौधन्वा ऋभु के वंशज ही रथकार हुये। वे जन्म से उच्चवर्ण या उच्चजाति के थे। वे कर्म से शिल्पी या रथकार हुये, कालान्तर में शूद्र माने गये। परन्तु पूर्वप्रतिष्ठा के कारण वे ब्राह्मणतुल्य माने जाते थे, अतः उनका यज्ञ या अग्न्याधान में अधिकार विहित था।

मीमांसक आचार्य जैमिनि ने यज्ञानुष्ठान में स्त्री या पत्नी का अधिकार विहित किया था। यज्ञसंयोग से ही स्त्री या वधू पत्नी कहलाती थी, ऐसा पाणिनि का मत था ।[3] सूत्रकारों ने स्त्रीपुरुष का समान अधिकार माना था किन्तु कुछ आचार्य अद्रव्यवती होने से यज्ञ में स्त्री के अधिकार को दुर्लभ मानते थे। यज्ञ करने के लिये प्रभूत धनधान्य की आवश्यकता होती थी। परन्तु स्त्री को, मनु आदि निर्धन और दासी मानते थे, और पुरुष ही उनका स्वामी माना जाता था ।[4] ऐतिशायनाचार्य केवल पुरुष का ही यज्ञ में अधिकार मानते थे, क्योंकि श्रुति में पुल्लिग निर्देश मिलता है ।[5] आचार्य बादरायण यज्ञ मे स्त्री का भी अधिकार मानते थे ।[6] वेद में पत्नी का यज्ञसाहित्य विहित है, यथा—

मेखलया यजमानं दीक्षयति'।

पत्नी च गार्हपत्ये तूष्णीमिति।

अतः स्त्री धनवती होकर यज्ञ कर सकती थी।

यज्ञव्याख्या—देवता के निमित्त जो द्रव्य त्याग किया जाता था, यही 'यज्ञ' था। कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसार प्राचीनभारत में 'यज्ञव्यवस्था' एक वितरण प्रणाली का ही अपरनाम था। चातुर्मास्य (शुनासीरीय आदि) ऋतुयज्ञों के विधान

---

1. येन हरी मनसा निरतक्षत तेन देवत्वमृभवः समानश।
   (ऋ० 3-10-3)
2. चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्।
   अकर्त चतुरः पुनः (ऋ 1-20-6)
3. पत्युर्नोयज्ञसंयोगे (अष्टा० 4-1-33);
4. भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रयः एवाधनाः स्मृताः।
   यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य ते तद्धनम्॥
   (म० स्मृ० 8-4-6)
5. मी० सू० (6-1-6)
6. मी० सू० (6-1-8)

से यह तथ्य कुछ-कुछ स्पष्ट एवं सिद्ध होता है। नवसस्येष्टियज्ञ भी एक कृषियज्ञ था, जिसमें नवान्न के भक्षण का विधान था। गीता के विवरण से भी यही भाव प्रकट होता है कि यज्ञ एक 'वितरणव्यवस्था' का ही नाम था -

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
(गीता॰ 3-9)

'यज्' धातु के तीन अर्थ लगाये गये हैं—देवपूजा, संगतिकरण और दान। ये तीनों ही कार्य एक प्रकार से 'सामाजिकवितरणव्यवस्था' के प्रधान अङ्ग थे। वैश्य व शूद्र अन्न को उत्पन्न करता था ब्राह्मण या पुरोहितवर्ग देवपूजा के नाम पर धन और अन्न प्राप्त करता था - इसी प्रकार अन्य लोग यज्ञ भाग प्राप्त करते थे।

यजति और जुहोति संज्ञायें—जिस यज्ञ में होमकर्त्ता बैठकर घृतादि से होम करता था, वह जुहोति कहलाता और जिस कर्म में खड़े होकर वषट्कारमय होम करता था, वह 'यजति' कहलाता था। जुहोति दर्वी से किया जाता था और यजति' चमसादि से किये जाते थे। यजति (यज्ञ) में याज्या, पुरोऽनुवाक्या मन्त्र पढ़े जाते थे।

ऋत्विक्कर्म या आर्त्विज्य – 'ऋत्विक्' शब्द 'ऋत' पद में 'उ' प्रत्यय और इज् (यज्) धातु के संयोग से बना है, जो ऋतु (समय) पर यजन करता था, वही ऋत्विक कहलाता था। दर्शपूर्णमासयज्ञ को एक ही ऋत्विक् सम्पन्न कर सकता था। और वह केवल ऋग्वेद और यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा सम्पादित हो सकता था। इसी प्रकार अग्निहोत्र हो सकता था।

सोमयज्ञ तीनों वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) से सम्पन्न होता था। सोमक्रतु में न्यूनतम चार ऋत्विक् होते थे—

(1) होता (ऋग्वेदेन होता करोति)
(2) उद्गाता (सामवेदेन उद्गाता)
(3) अध्वर्यु (यजुर्वेदेनाध्वर्युः)
(4) ब्रह्मा (सर्वब्रह्मा)

---

1. सात पाक यज्ञ होते हैं—औपासनहोम, वैश्वदेवबलि, पार्वण, अष्टका, श्राद्ध, सर्पबलि और ईशानबलि।
सात हविर्यज्ञ हैं—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढ़पशुबंध, सौत्रामणी और पिण्डपितृयज्ञ।
सात सोमक्रतु (यज्ञ) है—अग्निष्टोम (ज्योतिष्टोमः), अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अप्तोर्याम और अग्निचयन।

ब्रह्मा, अथर्वसहित चारों वेदों का विद्वान् होता था। यह ऋत्विक्कर्म केवल ब्राह्मणवर्ग ही कर सकता था, क्षत्रिय या वैश्य नहीं।[1]

ज्योतिष्टोमसंज्ञक सोमक्रतु के प्रसंग में कहा गया है कि आर्षेय ब्राह्मण, महान्, युवान और बहुत सन्तानों वाले हों।[2] शाखान्तर में क्षत्रिय और वैश्यकिणान्नापभक्ष का प्रतिबंध है ब्राह्मण ही दक्षिण के अधिकारी थे।[3] अत, बहुत पुरातनकाल से ही पौरोहित्यकर्म ब्राह्मणों के के लिये ही विहित था, अन्य वर्ण के लिये नहीं। स्वार्थ पूर्ति के कारण ही उन्होंने पौरोहित्यकर्म, दक्षिणादान आदि विशेषाधिकार अपने पास ही रखे।

मन्त्रादिलक्षण—आपस्तम्ब के मतानुसार मन्त्र और ब्राह्मण (ग्रन्थ) यज्ञ के प्रमाण है,[4] (मन्त्रब्राह्मणे यज्ञस्य प्रमाणम्)[5] और मन्त्र का लक्षण जैमिनि ने यज्ञ प्रेरकवाक्यों को बताया है।[6] मन्त्र चार प्रकार के माने गये हैं - ऋक् यजुः, साम और निगद।[7] जैमिनि ने ऋगादि का लक्षण बताया है—'तत्रार्थवशेन वृत्तवशेन वा या पादव्यवस्था सा ऋक्' (जै० मी० सू 21-1-35) जहां अर्थ के कारण या छन्द के कारण पादव्यवस्था हो वह ऋचा है, यथा 'अग्निमीडे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम् (ऋ० 1-1-1), जहां पाद के अन्त में अनियताक्षर हों वह यजुर्मन्त्र है। गीति ही साम हैं। उच्चस्वर से जिन प्रैष और निगम (आदेशों) को यज्ञ में उच्चारित किया जाता था वे यजुः ही निगद थे, यथा 'प्रोक्षणीः सादय' (प्रोक्षणीजल को रख दो) इत्यादि।

आपस्तम्ब ने 'कर्मचोदनानि ब्राह्मणानि' कहकर यज्ञप्रेरकवाक्यों को ब्राह्मण बताया है। उनके मत में ब्राह्मणग्रन्थ भी वेद हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र यागविधियाँ ही अधिकतर उपलब्ध होती हैं, उनमें यज्ञ, यज्ञाङ्ग द्रव्य, देवता, मन्त्रादि में प्रवृत्तिहेतु स्तुति, आख्यानादि मिलते हैं। प्ररोचनार्था फलश्रुति को अर्थवाद कहते

1. ब्राह्मणानामार्त्विज्यम् (आ० श्रौ० 24-1-21)
2. ब्राह्मणा ऋत्विज आर्षेया महान्तो युवानो बह्वपत्याश्च। (वाराहश्रौतसूत्र 1.1-23)
3. द्वय्या वै देवा······आहुतय एव देवानां दक्षिणा मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां······तस्मादृत्विग्भ्य एव दक्षिणा दद्यान्नानृत्विग्भ्यः। (श० ब्रा० 4-3-4-5)
4. आ० श्रौ० (24-1-30)
5. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् (आ० श्रौ० 24-1-31)
6. तच्चोदकेषु मन्त्राख्या (जै० मी० सू० 2-2-32)
7. ऋचो यजूंषि सामानि निगदा मन्त्राः (का० श्रौ० 1-3-4)

हैं । आपस्तम्ब ने 'अर्थवाद, निन्दा, प्रशंसा, परकृति और पुराकल्प को ब्राह्मणशेष' कहा है ।[1] अक्षपाद गौतम ने 'स्तुति, निन्दा, परकृति और पुराकल्प को अर्थवाद कहा हैं ।[2] शबरस्वामी ने मीमांसाभाष्य में ब्राह्मण के दश लक्षण बताये हैं--'हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परिक्रिया, पुराकल्प, (व्यवधारणा) कल्पना और उपमान ये दश ब्राह्मण की विधियाँ हैं ।[3]

मन्त्रविनियोगविधि—सूत्रकारों ने मन्त्रविनियोगविधि पर भी विचार किया है । मन्त्र का विनियोग उसके अर्थ या लिङ्ग (चिह्न) को देखकर ही किया जाता था । यास्क के मत में मन्त्रार्थ जाने बिना वेदपाठी भारहार (बोझा ढ़ोने वाले) के समान था—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।

आपस्तम्ब के मत में विशिष्टमन्त्रप्रयोग अर्थान्तर के कारण कार्यान्तर में नहीं प्रयोग करना चाहिये ।[4] आचार्य के मत में मन्त्र पढ़ने के पश्चात् कर्म करना चाहिये । कहीं क्रियावृत्ति में एकबार (सकृन्मन्त्र) पढ़ने का विधान है, कहीं बार-बार मन्त्रपाठ का विधान हैं । आचार्यों के मत में कण्डूयन, स्वप्न, नदीसंतरण, अव-वर्षण, अमेध्यदर्शनादि में उसी अर्थ का मन्त्र एक बार पढ़ना चाहिये ।[5]

ब्राह्मणग्रन्थों एवं अनेक मन्त्रविनियोगग्रन्थों में अनेकविध एवं निरर्थक मन्त्रविनियोग मिलता है । यह यास्कादि के सिद्धान्त के विपरीत है । इस सम्बन्ध में डा० कृष्णलाल ने लिखा है—पुरोहितों के इस 'अज्ञान और उपेक्षा' का वर्णन आदित्यदर्शन द्वारा पाकयज्ञनिवृत्ति में उल्लिखित शब्दों में अधिक अच्छी प्रकार से किया जा सकता है । (गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग, पृ०26) लौगक्षिगृह्यसूत्र की भूमिका (पृ० 7-8 पर) उद्धृत—

गर्जन्ति श्रोत्रिया गेहे निष्फलाः शरदभ्रवत् ।
अर्थेन किं नो वेदस्य वदन्ति ते मिथः ।
अर्थज्ञानसमासज्जनान् विहसन्ति ते ।।

1. आ० श्रौ० (14।1-33)
2. न्यायसूत्र (2-तु-84)
3. शावरभाष्य (2-1-8)
4. आ० श्रौ० (24-1-37)
5. का० श्रौ (1-7-13)
आ० ओ० (24-1-40), भार० परिभाषाशेषसूत्र (66), और जैमिनि—
स्वप्ननदीतरणाववर्षणामेध्यददर्शनप्रतिमन्त्रणेषु चैवम् (जै०मी०सू० 1-4-53) ।

"श्रोत्रिय पुरोहित घर में ही बिना जल के बादलों की भांति गर्जते हैं कि हमें वेदार्थ (मन्त्रार्थ) से क्या प्रयोजन है और वे अर्थज्ञान से सम्पन्न वेदज्ञों का उपहास करते हैं।"

इसी प्रकार पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने 'वैदिकछन्दोमीमांसा' में काल्पनिक एवं निरर्थक मन्त्रविनियोग के कुछ प्रसिद्ध उदाहरण दिये हैं। यथा वसा सम्बन्धी याज्यामन्त्र में इस मन्त्र का प्रयोग है—'युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे' इस मन्त्र में केवल वस्त्र पहिनने का उल्लेख है, मेद या वपा का कोई उल्लेख नहीं, परन्तु वपा-याज्या में इसका विनियोग होता है। इसी प्रकार दधिक्रा: का अर्थ मेघ या अश्व था, परन्तु इस मन्त्र का विनियोग दधिभक्षण में किया जाता है—

"दधिक्राव्णो अकारिषम्।"

अग्निवेशगृह्यसूत्र में 'शन्नो देवी' इत्यादि मन्त्र का प्रयोग शनैश्चरादि ग्रहों की पूजा के लिये किया जाता है।

अत: न केवल सूत्रग्रन्थों में बल्कि ब्राह्मणग्रन्थों में भी निरर्थक मन्त्रविनियोग मिलते हैं।

मन्त्रोच्चारणविधि—वेदमन्त्रों में स्वरोच्चारण का कितना अधिक महत्व था, यह विद्वानों को विदित ही है मन्त्रो हीन: स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु: स्वरतोऽपराधात्"।

स्वरविधान व्याकरणशास्त्र और प्रातिशाख्यों का एक प्रधान विषय है। सूत्रकारों ने यज्ञपरिभाषासूत्रों में विभिन्न वेदों की मन्त्रोच्चारणविधि का निर्देश किया है। मन्त्रों के उच्चारण भाषिकस्वर, संहितास्वर और एकतानस्वर में किये जाते थे। भाषिकस्वर को ही ब्राह्मणस्वर या गद्यस्वर कहते थे। उच्चस्वर, सुब्रह्मण्या, साम, जपादि वर्जित थे।[1] ये उपांशु (मन्द) स्वर में बोले जाते थे।

आपस्तम्ब के मत में ऋग्वेद और सामवेद के मन्त्र उच्चस्वर में उच्चारण करने चाहिये। मन्दस्वर में यजुर्वेद के मन्त्र पढ़ने चाहिये परन्तु यजुर्वेद के कार्य—आश्रुत, प्रत्याश्रुत, प्रवर, संवाद, प्रैष, आदि का उच्चस्वर से उच्चारण करना होता था। एवं वषट्कार का उच्चारण, यज्ञ में, उच्चस्वर से या एकतानश्रुति से करना चाहिये। आपस्तम्ब के मत में प्रात:सवन, मध्यदिनसवन और तृतीय सवन में क्रमश मन्दस्वर, मध्यमस्वर और क्रुष्ट (उच्च) स्वर का विधान है।[2]

---

1. एकश्रुतिदूरात्सम्बुद्धौ यज्ञकर्मणि सुब्रह्मण्यांसामजपन्यूङ्खयजमानवर्जम्।
(का० श्रौ०, 1-6-19, अष्टा० (1-2-34)

2. आ० श्रौ० (24-1-12-14)।

उपर्युक्त पृष्ठों पर यज्ञसम्बन्धी कुछ सैद्धान्तिकविषयों पर विचार किया गया। अब आगे यज्ञसम्बन्धी साधन, उपकरण और पारिभाषिक पदों की व्याख्या की जाती है।

यज्ञियवृक्ष—यज्ञार्थ कुछ विशिष्ट वृक्षों के काष्ठ से यज्ञियपात्रों का निर्माण किया जाता था। यथा श्रुवा खादिरवृक्ष की होती थी। पर्णमयी जुहू होती थी, अश्वत्थवृक्ष से उपभृत् और विकंकत् काष्ठ की ध्रुवा बनाई जाती थी। अन्य अहोमपात्र वारणवृक्ष के होते थे। आपस्तम्ब के मत में स्फय और प्राशित्रहरण खादिर वृक्ष के होते थे। उलूखल, मूसल, कूर्च, पिष्टपात्र इत्यादि भी वरणावृक्ष की बनाई जाती थी। स्फय तलवार के समान काष्ठोपकरण था और प्राशित्रहरण चमसाकृति होता था। स्रुक् बाहु जितनी लंबी होती थी, जिससे होम किया जाता था। दर्भतृण से निर्मित गुच्छ को वेद कहते थे। वेद से अङ्गारों में पड़े हुये पुरोडाश (रोटी) को इधर-उधर किया जाता था।

प्रतिनिधिद्रव्य—विशिष्ट देवताओं के लिये विशिष्ट द्रव्य का ही पुरोडाश या चरु या हवि दी जाती थी, यथा वरुण के लिये जौ का पुरोडाश दिया जाता था, इसी प्रकार इन्द्र के लिये पुरोडाश, सोम के लिये चरु इत्यादि का विधान था। यदि किसी कारण विशिष्ट द्रव्य नहीं मिलता था तो सामान्य द्रव्य से ही यज्ञ किया जा सकता था, परन्तु वह तद्धर्मा (तद्गुणयुक्त) द्रव्य होना चाहिये—'शिष्टाभावे सामान्यात्प्रतिनिधितद्धर्मा च स्यात्। (आ० श्रौ० 24-3-52) यथा व्रीहियवों के अभाव में नीवार से यज्ञ करना चाहिये। सोम के अभाव में पूतीका प्रयुक्त करनी होती थी। किन्तु यज्ञस्वामी और अग्निदेवता का कोई प्रतिनिधि नहीं होता था। किन्तु दीर्घसत्र में यज्ञस्वामी आदि का भी प्रतिनिधि हो सकता था।

यज्ञफल और यजमान—ब्राह्मणग्रन्थों में बहुधा निर्देश मिलता है कि 'स्वर्गकामो यजेत्' इस प्रकार यज्ञकामना और फलप्राप्ति के लिये किये जाते थे। यह फल ब्राह्मणों की दृष्टि में यजमान को प्राप्त होना था, जिसे यज्ञस्वामी भी कहा कहा जाता था। किन्तु नित्ययज्ञों यथा अग्निहोम, पंचमहायज्ञों में यथाकाम्य (फलकामना) नहीं होती थी, तहाँ तक कि अग्निष्टोमसंज्ञक सोमक्रतु भी निष्कामभाव से से किया जाता था, यथा 'वसन्ते वसन्ते यजेत' 'वसन्त में यज्ञ करे' इत्यादि नित्ययज्ञों में यथाकाम्य नहीं था। परन्तु सोमक्रतुओं को सामर्थ्यवान् ही अनुष्ठित कर सकता था।[1]

यज्ञप्रकृति—आपस्तम्ब के मत में 'दर्शपूर्णमासयज्ञ' सभी इष्टियों की प्रकृति है। इसीको मूलाधार मानकर अन्य यज्ञ किये जाते थे। सवनीय अग्निसोम

---

1. यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।
   अधिकं वापि विद्येत् स सोमं पातुमर्हति (मनुस्मृति 11-7)

याग और पशुयज्ञ की यही प्रकृति थी। वैश्वदेवयाग, वरुणप्रघास, साकमेघ और शुनासीरीयसंज्ञक चातुर्मास्य या ऋतुयज्ञों की प्रकृति होती थी। अग्निष्टोम सोमक्रतुओं की प्रकृति थी। द्वादशाहयज्ञ अहीनयज्ञों की प्रकृति थी।

यज्ञोपकरण – तैत्तिरीयसंहिता (1-6-8-2-3) में दश यज्ञायुध या यज्ञोपकरण कथित हैं—'यो वै दश यज्ञायुधानि वेद मुखतोऽस्य यज्ञः कल्पते स्फयञ्च कपालानि चाग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्या चोलूखलं च मुसलं च दृषद् चोपला चतानि दश यज्ञायुधानि।[1] "स्फय, कपाल, अग्निहोत्रहवणी, शूर्प, कृष्णाजिन, शम्या, उलूखल, मुसल, दृषद् (प्रस्तर) और उपला ये दश यज्ञोपकरण है।

षोडश ऋत्विक् – सोमक्रतु या प्रधानयज्ञ चार प्रधान ऋत्विक् द्वारा होता था, ऋग्वेद में मन्त्र है—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्।
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः॥

एक (होता) ऋचाओं का पाठ करता था, उनको पुष्ट करता था, उद्गाता साम को गाता था, अध्वर्यु यजुर्वेद के विधान से यजुःपाठ करता था और ब्रह्मा अथर्ववेदानुसार यज्ञ की त्रुटियों को ठीक करता था।

दर्शपौर्णमास इष्टि में चार ही ऋत्विक् होते थे। चातुर्मास्ययज्ञ में पञ्चम ऋत्विक् प्रतिप्रस्थाता होता था। निरूढ़पशुयज्ञों में मैत्रावरुणनाम का षष्ठ (छठवाँ) ऋत्विक् होता था। सोमक्रतुओं और अश्वमेध जैसे महायज्ञों में सोलहऋत्विक् होते थे, सत्रहवाँ सदस्य होता था। इन सोलह ऋत्विज्ञों के नाम थे—होता, मैत्रा-वरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत् अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता, ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंशी आग्नीध्र, पोता, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य।

व्याहृति—भूः, भुवः और स्वः वे तीन पद वेद में विख्यात व्याहृति कहलाती थीं। गायत्रीमन्त्र में इन तीनों का समावेश था—[2]

भूर्भुवःस्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्।

---

1. तुलना कीजिये—
द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति शूर्पं चाग्निहोत्रहवणी च स्फयं च कपालानि च शम्या च कृष्णाजिनं चोलूखलमुसले दृषदुपले तद्दश (श० ब्रा० 1-1-1-22)।
2. आश्वलायनश्रौतसूत्र (4-1-6)।

भू: पृथिवी की संज्ञा है, भुवः अन्तरिक्ष का नाम और स्वः सूर्य या द्युलोक (स्वर्ग) का नाम था। कुछ वेदाचार्य चतुर्थी व्याहृति मानते थे जैसे तैत्तिरीयारण्यक (7/4) में महाचमस आचार्य 'मह' को चतुर्थी व्याहृति मानते थे, इससे ही 'महर्लोक' संज्ञा प्रथित हुई ।[1]

शस्त्र – जिन मन्त्रों से किसी देवता की स्तुति की जाती थी, वे शस्त्र, स्तुति या स्तोत्र कहलाते थे ।[2]

तूष्णींशंस—जिन मन्त्रों को ऋत्विक् या यजमान चुपचाप जपते थे, वे 'तूष्णींशंस' कहलाते थे।

सामिधेनी— यज्ञ से अग्नि उत्पादन के समय 21 ऋचायें पढ़ी जाती थी, वे 'सामिधेनी' कहलाती थी।

उपाँशुजप—जो मन्त्र मन्दस्वरसे या मन में ही पढ़े जाते थे, उन्हें उपांशु जप कहते थे।

हविः—यज्ञ में होम की जाने वाली सामग्री को हविः कहा जाता था। यह अनेकविध थी। पशुओं से उत्पन्न हविः दश प्रकार की थी—पयः (दूध), दधि, आज्य आमिक्षा, वाजिन, वपा, त्वक्, त्वचा, मांस, रक्त पशुरस।

औषधिहविः द्वादशविध थीं—तण्डुल, पिष्ट, फलीकरण, पुरोडाश, ओदन, यवागू, पृथुका, लाजा, धानासक्तु और सुरा। सुरा का प्रयोग केवल सौत्रामणी याग में होता था। इनके अतिरिक्त और भी बहुत सी हविः थीं, यथा—मधु, सोम, कृष्णल, किंशुक, समिध, बर्हिः, करीर, खर्जूर, इत्यादि।

यज्ञसाधन- यज्ञों के लिये अन्य बहुत से उपकरण और साधनों की आवश्यकता होती थी। उनमें से कुछ के नाम थे—चमस, द्रोण, कलश, ग्रावण अधिषवण पूतभृत्, आधवनी, वेदि, बर्हिः, इध्म, परिधि, इष्टका, उपयामनी, उष्णीष, ऊर्णासूत्र, ऋतुपात्र, ग्रहः, कशिपु, कुम्भ, कूर्च, क्षुर, तन्तु, दुन्दुभि, परिषाच्, रास्ना, रश्मि, वज्र, शफा, शिक्य, शिक्यपाश, स्थाली, इत्यादि।

अब यज्ञ सम्बन्धी महत्वपूर्ण कुछ पदों की व्याख्या की जाती है।

अग्निहोत्र – अग्नि में प्रातः और सायं जो घृताहुतियों दी जाती थीं, वे अग्निहोत्र कहलाती थीं।

---

1. तासामु ह स्मैतां चतुर्थी महाचमसस्य प्रवेदयन्ते मह इति (तै० आ० 7-4)
2. शस्त्र अनेक प्रकार के थे—यथा-प्रउग, पुरोरुक्, निवित्, प्रयाज, अनुयाज, प्रगाथ, धाय्या, षोडशी, नाराशंस, पावमानी यान, जप, आहाव, प्रतिगर, उकथ्य, याज्या इत्यादि।

दर्श—अमावस्यातिथि की संज्ञा ही दर्श थी।

पूर्णमास—मास् चन्द्रमा का ही नाम था, जिस दिन चन्द्र पूर्ण होता है, उसी को पूर्णमास या पौर्णमास या पौर्णमासतिथि कहते थे।

दर्श और पूर्णिमा के दिन जो यज्ञ किया जाता था, वही दर्शपूर्णमास कहलाता था। यह यज्ञ चन्द्रमा पर आधारित था।

श्रौताग्नि—यज्ञ में अग्नियों की तीन संज्ञायें थी—आहवनीय, दक्षिणाग्नि और गार्हपत्य। जिस अग्नि में आहुतियों आहुत की जाती थीं, वह आहवनीय थी। गार्हपत्यग्नि में गृह्यसंस्कार किये जाते थे। दक्षिणाग्नि में यज्ञिय पदार्थ पकाये जाते थे।

होमद्रव्य—ऋतु (यज्ञ) का प्रधान साधन पयः (दूध) था। अन्य काम्य होमद्रव्य थे—यवायू, तण्डुल, घृत, दधि। शतपथब्राह्मण (14/6/3/13) और जैमिनीयब्राह्मण (1/19) मे होमद्रव्यों का दार्शनिक विवेचन मिलता है। "जनक वैदह ने याज्ञवल्क्य से पूछा है—हे याज्ञवल्क्य। क्या तुम अग्निहोत्र को जानते हो। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया जानता हूं। जनक ने कहा—क्या। याज्ञवल्क्य ने कहा—'पयः'। यदि पयः न हो तो किससे होम करें तब ब्रीहियव से, यदि वे न मिले तो किससे हवन करें, तब अन्य किसी धान्य से, यदि अन्य धान न मिले तो किससे होम करें। तब आरण्य[1] ओषधियों से। यदि आरण्य ओषधियों न मिलें तब किससे होम करें, तब जल से। यदि। प्रायः (जल) न मिले तब किससे होम करें, तब सत्य का श्रद्धा में होम करें।[2] शतपथब्राह्मण (14/6/3/13) में दश ग्राम्य धान बताये गये हैं—व्रीहियव, तिल, माषा, (दाल) अणु, प्रियङ्गु, गोधूम, मसूर, खल्व, और खलकुल।

अग्रायण—जिस कर्म में 'अग्रे अयनं भक्षणं' वह अग्रायणकर्म कहलाता था। नवसस्येष्टि (होली) में यह कर्म किया वाता था। इस यज्ञ में नवान्न का भक्षण होता था। होली के रूप में यह आज भी प्रचलित है।

---

1. पुराणों में चौदह औषधियाँ कथित हैं—
   औषध्यो यज्ञियाश्चैव ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश।
   व्रीहयः सयवा माषा गोधूमा अणवस्तिलाः।
   प्रियङ्गुसप्तमा ह्येते अष्टमी तु कुलत्थिका।
   श्यामकास्त्वथ नीवारा जर्तिः सगवेधुका।
   कुरुविन्दा वेणुयवास्तथा मर्कटाश्च ये॥ (वायुपुराण अ० 8)
2. जै० ब्रा० (1-19);

चातुर्मास्य—चार मास के अन्तर से जो ऋतुयज्ञ (कृषियज्ञ) किया जाता था वह चातुर्मास्य कहलाता था। ये यज्ञ चार प्रकार के थे—वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय।

निरूढ़पशुबन्ध—यूप से पशु को बाँधकर, उसको अलंकृत करते थे, वह पशु-बन्धयाग कहलाता था। कुछ लोग लोभवश पशु को मार कर उसका मांसभक्षण भी करने लगे।

इष्टि—जिस यज्ञ में यजमान और उसकी पत्नी किसी कामना से, चार ऋत्विजों की सहायता से यज्ञ करते थे, वह इष्टि कहलाता था यथा पुत्रकाम्येष्टि।

उपवसथ—अग्न्याधेयकर्म में प्रथम दिन जो यज्ञ प्रारम्भ होता था, उसको 'उपवसथ' कहा जाता था।

परिसमूहन—यज्ञभूमि को लीपने को परिसमूहन कहा जाता था।

अभ्युक्षण—जल छिड़कने को अभ्युक्षण कहा जाता था।

सान्नाय—कच्चे दूध में दधि मिलाकर जो हवि: और भोज्य बनाया जाता था, उसे सान्नाय कहते थे।

परिभोजनीय दर्भ—अध्वर्यु द्वारा बिना मन्त्र पढे, चुपचाप जो कुश लाये लाते थे, वे 'परिभोजनीय दर्भ कहलाते थे।

प्राग्वंश (प्राचीनशाला)—यज्ञमण्डप को प्राग्वंश कहते थे जो कि प्राचीन दिशा में बांसों का बना होता था।

सोमप्रवाक्—सोमक्रतुओं में निमन्त्रणकर्त्ता पुरुष को सोमप्रवाक् कहा जाता था।

सोमक्रयणी—जिस गाय द्वारा सोम खरीदा जाता था वह सोमक्रयणी कही जाती थी।

महावीर—एक छिद्रयुक्त विशिष्ट पात्र (मृण्मय) जिसमें यज्ञार्थ दुग्धादि (प्रवर्ग्य) गर्म करके रखा जाता था।

घर्म—महावीरपात्र में गर्म दूध रखा जाता था, उसे 'घर्म' कहते थे।

प्रवर्ग्य—'घर्म' की आहुतियों इन्द्रादि को दी जाती थीं, उस कर्म को प्रवर्ग्य कहा जाता था।

महावेदि—सोमयज्ञ सम्पादनार्थ विस्तृत वेदि को महावेदि कहते थे।

हविर्धान—जिन दो शकटों में सोम संग्रहीत किया जाता था, वे हविर्धान कहलाते थे।

उपरव—वेदि के समीप चार गर्त (गड्डे) अरत्निमात्र खोदे जाते थे, वे उपरव कहलाते थे।

खर—वेदि के समीप उच्च स्थल (चबूतरा) खर कहा जाता था। खर पर ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण आदि ग्रह (पात्र) रखे जाते थे।

रराटी—यह एक यष्टि का नाम था, जिसे बाँस में बांध कर खड़ा करते थे, इसको तेजनी भी कहा जाता था।

इलायास्पद—वेदि के मध्य भाग की यह संज्ञा थी।

यूप—जिस स्तम्भ पर पशु को बांधा जाता था। वह अष्टाश्रि (आठ किनारे वाला) होता था। यूप खादिर, वैल्व, पालाश काष्ठों के होते थे।

मेधा-शब्द बुद्धि या शक्ति का वाचक था। पवित्र को मेध्य कहा जाता था। किसी के मत में मेध का अर्थ मांसादि रस होता था।[1] यजमान को मेधपति कहा जाता था।

ग्रह—सोमक्रतुओं में पात्रविशेष में सोम को ऋत्विगादि में पीने लिये वितरित किया जाता था वह ग्रह कहलाता था।

पशु—संभवत यज्ञों में पशुहिंसा की वृद्धि उत्तरोत्तर होती गई। प्रथम, कृतयुग मे यज्ञ पशुहिंसाविधान नहीं था। पिष्टपशु या व्रीहियव से यज्ञ किये जाते थे। पशु अलंकृत किये जाते थे। उनका दूध (पयः) पिया जाता था। कालान्तर में उनका मांसभक्षण किया जाने लगा। यज्ञ में पशुवध और मांसभक्षण को एक पवित्र धार्मिक कृत्य का वैधानिकरूप दे दिया गया। इस पशुहिंसा का अन्यत्र विवेचन किया जायेगा।

वेद में पशुओं के तीन और कहीं दो भेद कथित हैं।

तीन भेद हैं—वायव्य, आरण्य और ग्राम्य।[2]

दो भेद है—ग्राम्य और आरण्य।[3]

वायव्य पशु थे आकाश में उड़ने वाले पक्षी।

आरण्य थे—सिंह, व्याघ्र, शृगाल, वृक आदि।

ग्राम्यपशु थे—गाय, महिष, अज, अश्व आदि।

पांच पशु यज्ञिय या मेध्य माने जाते थे—गाय, अश्व, पुरुष, अज, अवि (भेड़)।

---

1. पशुर्वै मेधः (ऐ० ब्रा० 6-6)
   इमं मा हिंसी द्विपादं पशुं सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः।
   मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानः।
   इमं मा हिंसीरकेशकं पशुं कनिक्रदं वाजिनेषु॥
   (शु० य० जु० 4-47-48)
2. पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्चये। (पुरुषसूक्त)
3. ग्राम्याश्च ये पशव आरण्याश्च ये (यजु० 8-4)

वेद मन्त्रों में उपर्युक्त पांचों पशुओं के वध का निषेध किया है—

मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु ।
अन्यत्रोग्र विवर्तय ।।
पियारूणां प्रजां जहि ।।[1]

क्वचित् मन्त्रों में सात पशु भी कहे गये हैं ।[2]

अश्वतर और गर्दभ मिलकर सात ग्राम्य पशु माने जाते थे तीन पशुओं का यज्ञ में विशेष रूप से वध होता था–अश्व, तूपर और गोमृग ।[3] इनमें अज (वकरा) यज्ञ में प्रयुक्ततम पशु था और अश्व ओजस्वितम 'तस्मादश्वः पशूनामोजस्वितमः पशूनामाशिष्ठः ।[4]' तीन पशुओं को अमेध्य माना जाता था और इनका यज्ञ में वध नहीं होता था—

त्रयो ह वाव पशवो ऽमेध्या दुर्वराहः, एडकः श्वा । श० ब्रा० 12।4।1।4;

पयः—गौ या अजा का दूध पयः कहलाता था, जो यज्ञ में प्रयुक्त होता था ।

आज्य—घृत को ही आज्य कहा जाता था । इससे यज्ञाग्नि में होम किया जाता था ।

इडा—यज्ञशेष (अन्न) को इडा[5] कहा जाता था । यह पवित्र अन्न माना जाता । हिंसामययज्ञों में पशुमांस को इडा कहते थे । आज भी मुस्लिमों में बकर ईद के रूप में यह 'इडा' की स्मृति विद्यमान है ।

गतश्री—जो पुरुष सोमयज्ञ कर चुका होता था, उसे गतश्री कहा जाता था । वही सोमप या सोमपीथ कहलाता था ।

सोम—यह एक औषधिविशेष थी, सोमयज्ञों में इसका भक्षण किया जाता था । सोम को ऋजीषी और निचुम्पुण भी कहते थे ।

---

1. तवेमे पंच पशवो विभक्ताः ।
   गावो अश्वा पुरुषा अजावयः । अथर्ववेद 1-2-9)
2. अथर्ववेद (11-2-11)
   ये ग्राम्या : पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्ताना मयि रन्तिरस्तु ।
   (अथर्व० 3-10-6)
   सप्त हि ग्राम्याः पशवः (श० ब्रा० 3-3-ट-20)
   सप्तारण्याः (श० ब्रा० 1-5-2-8)
3. अश्वं तूपरं गोमृगमिति ।
   तान् मध्यमे यूपे आलभन्ते । (श० ब्रा० 2-2-2-2)
4. श० ब्रा० 2-4-1-4)
5. अन्नं वै इडा (श० ब्रा०)

सवन—यज्ञ में तीन समय, प्रातः, मध्यदिन और सायं सोम कूटकर निकाला जाता था, इसको ही प्रात.सवन माध्यदिनसवन और तृतीयसवन कहते थे।

सोमक्रतु—यह मुख्यः सात प्रकार का होता था—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम, और अत्यग्निष्टोम।

सौत्रामणी—युद्ध विजिगीषु राजा इस यज्ञ को करता था। इस यज्ञ में सुरापान का विशेष विधान था।

अनस्—शकट को अनस् कहते थे। दो अनस् हविर्धान कहे जाते थे।

पवित्र—कुशों के गुच्छ को पवित्र कहा जाता था।

कृष्णाजिन—यज्ञ में कृष्णाजिन आवश्यक उपकरण था। यह कृष्णमृग का चर्म होता था। कृष्णमृग का देश यज्ञिय माना जाता था।

कपाल मृण्मयपात्र शराव जिनमें पुरोडाश (रोटी) पकाई जाती थी, वे कपाल कहे जाते थे।

पुरोडाश—देवता के लिये व्रीहियव के रोट ही पुरोडाश कहलाते थे।

आसन्दी—महायज्ञों में यजमान जिस काष्ठमय कुर्सी उच्च आसन पर बैठता था, उसे आसन्दी कहा जाता था।

गोविकार—(**गव्य**)—गौदूध के विकार गाढ़े दही को **आमिक्षा** कहा जाता था। तरल दही को **वाजी** कहते थे। मक्खन को हैयङ्गवीन या नवनीत कहा जाता था। इसका एक नाम **मस्तु** भी था।

अभिघार—घृत की क्षरणक्रिया को अभिघार कहा जाता था।

प्रैष—यज्ञ के मध्य में अध्वर्यु का आदेश प्रैष कहलाता था।

दक्षिणा—यह प्रसिद्ध पद है, यज्ञसमाप्ति पर ऋत्विगादि को जो **गौ** आदि दी जाती थी, उसको दक्षिणा कहते थे।

यज्ञ और त्रयीविद्या

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने लिखा है कि यज्ञ ही मन्त्रों और ब्राह्मणों का प्रधान विषय है।[1] वैदिकयज्ञविज्ञान को ही त्रयीविद्या कहा जाता था। शतपथ ब्राह्मण में सूर्यमण्डल को ही त्रयीविद्या कहा गया है, जो तपती हैं—

'सैषा त्रय्येव विद्या तपति'

सूर्यमण्डल ही ऋग्वेद है, उसकी अर्चि (किरण) ही सामवेद है और उसमें अग्नि ही यजुर्वेद है—'यदेतन्मण्डलं तपति—स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते

---

1. यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः। न्या० भा० पृ० 283

तन्महाव्रतम् तानि सामानि स साम्नां लोकः। अथ य एव एतस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽग्निः। तानि यंजूषि स यजुषां लोकः।[1]

जगत् में सूर्य, (द्युलोक), अन्तरिक्ष (वायु) और पृथिवीरूपी त्रिलोकी का प्राकृतिकयज्ञ (उत्पत्ति, जीवन और विनाश) सतत चल रहा है। इस प्राकृतिकयज्ञ की उत्पादन और वितरणप्रणाली के अनुकरण पर मानवीययज्ञों की कल्पना की गई, जैसा कि मनु ने सङ्केत किया है —

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुसामलक्षणम्॥[2]

अत: वेदों में त्रिलोकस्थ देवों की स्तुति है और उनके निमित्त यज्ञों का विधान है। अग्नि ही ऋग्वेद है, अन्तरिक्ष (वायु) ही यजुर्वेद है और सूर्य ही सामवेद है। तैत्तिरीयब्राह्मण में कहा गया है कि सभी मूर्तिमान् ऋग्वेद (अग्नि) से उत्पन्न होते हैं। सभी गतियाँ यजुः (वायु) से उत्पन्न होती हैं और सर्वतेज सामरूप (सूर्य) हैं —

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः।
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूपं हि शश्वत्।
सर्वं हृदि ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥[3]

यज्ञ के वैज्ञानिकस्वरूप का कुछ आभास निम्न वाक्यों से होगा—

अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः (श० ब्रा०)

अग्नि से धूम उत्पन्न होता है, धूम से अभ्र (मेंघ), और मेघ से वृष्टि होती है। मनुस्मृति में इसको और अधिक स्पष्ट किया है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक् आदित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिस्ततोऽन्नं तत् प्रजाः (म० स्मृ०)

"यज्ञाग्नि में डाली हुई घृताहुति आदित्य (सूर्य) के पास पहुँचती है। आदित्य से वृष्टि उत्पन्न होती है और वृष्टि से प्रजा उत्पन्न होती है।"

वेद, यज्ञ, पर्जन्य (मेघ) और अन्न का सम्बन्ध गीता में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ गी० (3-9,15)

---

1. श० ब्रा० (1-3-5-2) 3. तै० ब्रा० 11-1;
2. म० स्मृ० (अ० 2)

यज्ञ द्वारा ही देवतासृष्टि होती है और वे देवता (पर्जन्य) उत्पन्न होकर संसार का पालन करते हैं --

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः । गीता (अ० 3)

यज्ञ और मन्त्रों में देवताओं का क्या स्वरूप था, यह कल्पसूत्र का प्रधान विषय है । अतः अग्रिम अध्याय में 'दैवतविज्ञान' प्रस्तुत किया जाता है ।

—०—

अध्यायतृतीय

दैवतविज्ञान

यास्काचार्य ने निरुक्तशास्त्र के उत्तरषट्क (अध्याय 7 से 12 तक) में दैवतविज्ञान या वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है, इससे वेद में दैवतविज्ञान का महत्व समझा जा सकता है। वेद का यज्ञविद्या से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है, अत: देवता और यज्ञ वेद के प्रधान विषय हैं, अत: दैवतविज्ञान पर विचार करने से पूर्व अतिसंक्षेप में श्रौती यज्ञविद्या का स्पष्टीकरण करते हैं।

यज्ञ और त्रयीविद्या—न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने लिखा है कि यज्ञ ही मन्त्रों और ब्राह्मणग्रन्थों का प्रधानविषय है।[1] वैदिकयज्ञविज्ञान को ही त्रयीविद्या कहते हैं। शतपथब्राह्मण में सूर्यमण्डल को ही त्रयीविद्या कहा है जो तपती है—

'सैषा त्रय्येव विद्या तपति',

सूर्य का मण्डल ही ऋग्वेद है, उसकी अर्चि (किरण) सामलोक है और उसमें अग्नि ही यजुर्वेद है—'यदेतन्मण्डलं तपति......स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तानि सामानि स साम्नां लोकः। एतस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽग्निः।[2]

जगत् में सूर्य, अन्तरिक्ष (वायु) और पृथिवी-रूपी त्रिलोकी का प्राकृतिक यज्ञ सतत चल रहा है। इस प्राकृतिक (उत्पादन और वितरणप्रणाली) के आधार पर मानवीयज्ञों की कल्पना की गई, जैसा कि मनु ने सङ्केत किया है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुसामलक्षणम् ॥[3]

अतः वेदों में त्रिस्थानीय (पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक स्थित) देवों की स्तुति है और उनके निमित्त यज्ञों का विधान है। अग्नि ही ऋग्वेद है, वायु (अन्तरिक्ष) ही यजुर्वेद है और सूर्यलोक ही सामवेद है। तैत्तिरीयब्राह्मण में कहा है—सभी मूर्तिमान् पदार्थ ऋग्वेद (अग्नि) से उत्पन्न होते हैं। सब गतियाँ यजुः (वायु) से उत्पन्न होती हैं और सर्वतेज सामरूप (सूर्यरूप) हैं—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः। सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूपं हि शश्वत्। सर्वं हृदि ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥[4]

---

1. "यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः", (वात्स्यायनभाष्य पृ० 283)।
2. श० ब्रा० (1।3।5।2)
3. म० स्मृ (2)
4. तै० ब्रा० 1।1।2;

यज्ञ के वैज्ञानिकस्वरूप का कुछ आभास निम्न उद्धरणों से होगा—

"**अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः**" (शतपथब्राह्मण)

'अग्नि से धूम उत्पन्न होता है, धूम से अभ्र (मेघ) और मेघ से वृष्टि होती है । मनुस्मृति और गीता में इसको और अधिक स्पष्ट किया है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक् आदित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिस्ततोऽन्नं तत् प्रजाः ।। (म० स्मृ०)
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।। (गी० 3-9,15)

अतः वेद से यज्ञकर्म उत्पन्न हुआ । यज्ञ से प्रजा का पालन (वृष्टि, अन्नादि क्रम से) होता है ।[1]

यज्ञ और मन्त्र में देवताओं का क्या स्वरूप है, अब यह प्रतिपादित किया जाता है ।

देव-पदनिर्वचन—आचार्य यास्क ने 'देव' पद का दिर्वचन इस प्रकार किया है—"देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा", (निरुक्त 7।15)—"दान देने के कारण, दीप्त होने से, चमकने से या द्युलोक में स्थित होने से (दिव्य पदार्थ) देव कहलाते हैं । यह देवशब्द √दिवु धातु से अच् प्रत्यय लगाकर बना है । √दिवु के अनेक अर्थ हैं, परन्तु देव शब्द में द्युति, स्तुति, कान्ति और गति ये चार भाव ही माने जाने चाहिये । सूर्य, अग्नि, पर्जन्य आदि देवों के स्वरूप से यह समझना चाहिये कि इनमें दीप्ति, प्रकाश, चमक एवं गति है, अतः वे देव हैं । दिव्य और अदिव्य (यथा नदी, अश्व आदि) पदार्थ भी मन्त्रों में देव कहालये, जिनकी स्तुति की गई । अतः स्तुति का देव से घनिष्ट सम्बन्ध हो गया । ऋग्वेद या ऋचा का अर्थ ही स्तुति है, ब्रह्म का अर्थ भी स्तुति या काव्य है, अतः वेद मुख्यतः स्तुतियों के संग्रह हैं, ये स्तुतियाँ अनेक दिव्य और अदिव्य पदार्थों की की गई हैं, वे स्तुत पदार्थ देव कहलाते हैं ।

मन्त्र में देवता का ज्ञान - वेदमन्त्रों में देवता की पहिचान के लिये अनेक शास्त्रों की रचना की, इनमें ऋग्वेद के मन्त्रों की पहिचान के लिये शौनक ने बृहद्देवताग्रन्थ की रचना की । अतः मन्त्रों में देवता का ज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य

---

1. यज्ञ द्वारा देवसृष्टि होती है और वे देवता (पर्जन्य-वर्षा) उत्पन्न होकर संसार का पालन करते हैं, यही तथ्य गीता में कहा गया है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।"

है। इस दृष्टि से मन्त्रों के दो विभाग स्पष्ट हैं जैसा कि यास्क ने निर्देश किया है, प्रथम, 'आदिष्टदेवतालिङ्गमन्त्र', जिन मन्त्रों में किसी देवता का स्पष्ट नाम निर्दिष्ट है। द्वितीय, 'अनादिष्टदेवतालिङ्गमन्त्र' हैं जिन मन्त्रों में देवता का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। प्रथम प्रकार के मन्त्रों के ज्ञान की विधि यास्काचार्य ने इस प्रकार कही है— "यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति (नि० 7।1)। "ऋषि, कामना करता हुआ, जिस देवता से अभीष्ट आर्थपत्यम् (वस्तु) चाहता है, उसी की स्तुति करता है और वह मन्त्र उसी देवता (तद्दैवतः) का होता है।

मन्त्र में देवता की पहिचान सभी वेदाचार्यों को अभीष्ट है, जैसाकि शौनकाचार्य ने कहा है—

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमधिगच्छति ॥[1]

"प्रत्येक मन्त्र में देवता की पहिचान प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये। दैवतज्ञ ही मन्त्रों के यथार्थभाव को समझ सकता है।"

शौनक ने यास्क के उपर्युक्त 'यत्काम ऋषिः' वाक्य का अनुवाद इस प्रकार किया है—

अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति।
प्राधान्येन स्तुवन्भक्त्या मन्त्रस्तदैव एव सः ॥[2]

'जिस पदार्थ की कामना करता हुआ ऋषि जिस देव की भक्तिपूर्वक प्रधानता से स्तुति करता हुआ कहता है कि 'यह हो', वह मन्त्र उसी देवता का होता है।

अनादिष्टलिङ्गमन्त्रों में देवता को कर्म (यज्ञ) द्वारा समझना चाहिये, और मन्त्र और कर्म से अज्ञात मन्त्र का देवता प्रजापति होता है— मन्त्रेषु ह्यनिरुक्तेषु देवतां वदेत्। मन्त्रतः कर्मतश्चैव प्रजापतिरसम्भवे ॥[3]

ब्राह्मणग्रन्थों में कहीं-कहीं यज्ञ का प्रधान देवता विष्णु को कहा है, कहीं इन्द्र या अग्नि को। 'यथा यज्ञो वै विष्णुः' यह वाक्य ब्राह्मणन्थों में बहुधा मिलता है। ऐतरेयब्राह्मण में अग्नि को ही सवदेवता कहा है—'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (ऐ० ब्रा० 1।1), पुनः कहा है—"अग्निर्वैदेवानामवमो विष्णुः परमः' (ऐ० ब्रा० 1।1) "अग्नि देवों में कनिष्ठ और विष्णु परमदेव है।" यहाँ पार्थिव अग्नि से तात्पर्य है और विश्वव्यापी अग्नि या सूर्य का नाम विष्णु है। सभी देवता एक ही शक्ति (अग्नि —परमात्मा) के रूप हैं इसकी पुष्टि स्वयं ऋग्वेद के इस मन्त्र से होती है—

1. बृहद्देवता (1।2); 2. बृहद्देवता (1।6); 3. बृहद्देवता (7।16)

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहु :॥
(ऋ० 1।164।46)।

'एक ही देवता को ऋषिगण बहुत नामों से कहते है—इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य गरुत्मान् सुपर्ण। इसी अग्नि को मातरिश्वा (वायु) और यम कहते हैं।"

अग्नि का ही प्राचीनतम नाम 'इन्द्र' था। देवासुरों से पूर्व, जब ऐतिहासिक देवराज इन्द्र का जन्म भी नहीं हुआ था, कश्यप; पृथ, अङ्गिरा आदि ने अग्नि की स्तुति 'इन्द्र' नाम से की थी, अतः अग्नि की ही वृत्रहा और पुरन्दर संज्ञा थी, इसकी पुष्टि निम्न मन्त्र से होती है...

त्वामग्ने पुष्करादथर्वा निरमन्थत···
वृत्रहणं पुरन्दरम्', (ऋग्वेद)।

द्रविणोदा: अग्नि को इन्द्र कहा जाता था। इन्द्र अग्नि की संज्ञा थी इसकी पुष्टि में अन्य अनेक मन्त्र दिये जा सकते हैं। इन्धे (जलना) या इन्दते (चमकना) आदि से यास्क (नि० 10।8) ने इन्द्रपद का निर्वचन किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि इन्द्रपद अग्नि का ही पर्याय था। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने स्पष्ट ही लिखा है— 'वैद्युतेन ज्योतिषा वाय्वावेष्टितेन इन्द्राख्येन', (नि० 2।16), "वायु से आवेष्टित इन्द्र संज्ञक वैद्युताग्नि द्वारा।" अतः वायुवेष्टित विद्युत् या अग्नि का नाम ही इन्द्र था। अतः अग्नि ही वेद का प्रधान देव है—सूर्य भी दिव्याग्नि है अतः शौनकमत में—

भवद्भूतस्य भवस्य जङ्गमस्थावरस्य च। अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवंप्रलयं
विदु: (बृहद्दे० 1-61)

यज्ञ या यज्ञाङ्ग जिस देवतावाला होता है, उसमें प्रयुक्तमन्त्र भी उसी देवता वाला होता है। यज्ञ में अप्रयुक्त मन्त्रों का देवता प्रजापति होता है नैरुक्तों के मत में उनका नाराशंस देवता है। अथवा यथेच्छ देवता की कल्पना करे।

अत्यन्त ऐश्वर्यवान् (महाभाग्य) होने से देवता की एक आत्मा बहुत प्रकार से स्तुत की जाती है, जैसे अग्नि की जातवेदा: द्रविणोदा, वैश्वानर, वनस्पति आदि नामों से स्तुति। अथवा यों समझना चाहिये कि एक ही शक्ति की वेद में अनेक नामों से स्तुति की गई है।

देवताओं की संख्या—निरुक्तशास्त्र में त्रिलोकी के तीन ही प्रमुख देवता माने गये हैं यथा पृथिवीलोक का अग्नि, अन्तरिक्षलोक का वायु (या इन्द्र) और द्युलोक का सूर्य या आदित्य। ऋग्वेद में प्रत्येक लोक के ग्यारह-ग्यारह देवता कथित हैं—

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ।।

(ऋ० 1-139-11)

ऋग्वेद (3।9।9) में देवों की संख्या 3339 और शतपथब्राह्मण (1।16।1।4) में 3333 देवों का उल्लेख हैं। वेदों और पुराणों में देवों की प्रसिद्ध संख्या 33 ही है, वे इस प्रकार हैं—

'अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादश आदित्यास्त एकात्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ।" (बृ० उप० 3।9।2) आठ वसु हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ।

एकादशरुद्र वायुओं के प्रकार हैं और द्वादश आदित्य द्वादश मासों के रूप हैं। आदित्य सब कुछ आदान (ग्रहण) करते हैं अत: आदित्य कहलाते हैं।

विद्युत्ध्वनि (स्तनयित्नु) ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है—'स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञ: प्रजापतिरिति', (श० ब्रा० 11।6।3।9), वायु, विद्युत् या अग्नि ही इन्द्र है और यज्ञ—(अग्नि) ही प्रजापति है। वेदों में यद्यपि ऐतिहासिक देवराज इन्द्रादि का आदित्यों का पूर्ण साम्य नहीं है, परन्तु आख्यानसमय या इतिहास की छाया वेदमन्त्रों में सर्वत्र है, इसको अस्वीकार करना सत्य से आँख मूँदना है। यद्यपि शतपथ में स्पष्टत: कहा है—

तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्विति ।" (इन्द्र-वृत्र आदि का युद्ध) मन्त्रों में वह नहीं है जो इतिहास में है। परन्तु मन्त्रों के आधार पर ब्राह्मणग्रंथों में इन्द्रसम्बन्धी अनेक उपाख्यान यथा शर्यातोपाख्यान, पुरूरवा उर्वशी उपाख्यान एवं स्वयं वृत्रवध सम्बन्धी आख्यान मिलते हैं। यास्क ने स्वयं इसीलिये लिखा कि मन्त्रों में इतिहास, स्तुति और गाथा मिश्रित हैं ।[1] ऐतिहासिक देवासुरयुद्धों से निश्चय ही प्राकृतिक या दिव्ययुद्धों की उपमा दी गई है—'यत्रोपमार्थेन' युद्धवर्णा भवन्ति । अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च ।' (नि० 2।16)। आख्यानयुक्त (इतिहास) कथन से ऋषि को प्रीति होती है ।[2] अत: वेदमन्त्रों का कोई कैसा भी अर्थ करले, इतिहासमिश्रण को उनसे पृथक् नहीं किया जा सकता। शौनक, यास्क और इनसे पूर्व के सभी वेदाचार्य मन्त्रों में इतिहासवर्णन मानते थे।

तीन ही प्रमुख देवता—त्रयीविद्या के प्रसङ्ग में लिखा जा चुका है कि मन्त्रों का प्रमुख देवता अग्नि है और उसके तीन रूप—अग्नि, वायु और सूर्य ही तीन

---

1. तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं च भवति' (नि० 4।6)
2. ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता", नि० 10।10)

प्रमुख देवता हैं, यास्क ने लिखा है—'तिस्र एव देवता:। अग्नि: पृथिवीस्थान: सूर्यो द्युस्थान:।"[1] शौनक ने इसी का अनुवाद किया है—

अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव वा।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवता:॥[2]

इसी अग्नि को पृथिवी में वास करने से वसु कहा गया है वायु (इन्द्र= विद्युत्) अन्तरिक्ष देव हैं और द्युलोक का प्रधानदेव सूर्य हैं, जो कि सब लोकों की आत्मा और केन्द्र है— "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च", (ऋग्वेद) वेद में इन्द्र और वृत्र का जो वर्णन हे वह सर्वत्र ऐतिहासिक नहीं है प्राय: वह मेघ और विद्युत् का रूप है। स्वयं ऋषि वेद में कहता है— "न त्वं युयुत्से कतमच्च नाहन तेऽमित्रो मघवन्कश्चनास्ति। मायेत्सा ते युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रून्ननु पुरायुयुत्से" (ऋग्वेद)।

देवाकारचिन्तन—यास्क ने निरुक्त में चार प्रकार के देव माने हैं— (1) पुरुषसदृश (2) अपुरुषसदृश (3) उभयविध और (4) कर्मात्मा।

प्रथम श्रेणी में देवता पुरुषविध या पुरुषसदृश हैं, उनको सचेतन माना जाता है (चेतनावद्धि स्ततुयो भवन्ति), यथा वेदमन्त्रों में इन्द्र की अधिकांश स्तुतियाँ पुरुष मानकर की गई हैं, उनके अङ्ग प्रत्यंगों का उल्लेख है—

(1) ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू (ऋ० 6।47।8)।
'हे इन्द्र! तुम्हारे स्थविर (विद्वान् या दृढ़) की विशाल भुजायें हैं।'

(2) आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि (ऋ० 2।18।4)
"दोनों अश्वों के साथ हे इन्द्र! आओ।"

(3) ,अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य' (ऋ० 10।116।7)
"हे इन्द्र अपनी ओर बहने वाले सोम को पियो।"

(4) आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम् (ऋ० 1।10।9)
"विशाल कानों वाले इन्द्र हमारे आह्वान को सुनो।"

इनके नाम भी पुरुषसदृश हैं, यथा इन्द्र, वरुण, अर्यमा, विष्णु इत्यादि। इसी प्रकार अदिति, सिनीवाली आदि नाम पुरुषविध ही हैं।

द्वितीय प्रकार के देवता अपुरुषविध होते हैं ये प्राकृतिक शक्तियाँ हैं—यथा अग्नि, वायु, आदित्य, द्यावापृथिवी, चन्द्रमा आदि। इसी प्रकार ग्रावा, सोम, नदी, उलूखलमूसल इत्यादि की तथा उपर्युक्त अग्नि आदि की भी चेतनावत् स्तुति होती हैं। यथा - (1) 'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्' (ऋ० 10।75।9) 'सिन्धु (नदी) ने सुखमय अश्वयुक्त रथ जोता।"

---

1. निरुक्त (7।5), 2. बृहद्देवता (1।69),

13902

(2) अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः (ऋ० 10।94।8)
'ग्राव (पत्थर) हरितमुखों से क्रन्दन करते हैं।,'

अथवा देवता पुरुषविध और अरुवषविध दोनों प्रकार के हो सकते हैं जैसे हिमालय या अग्नि। इतिहासपुराणों से भी इनके दोनों रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार अग्नि, समुद्र सोम, सप्तर्षि इत्यादि के दोनों रूप सिद्ध है। वस्तुत: इन नामों ऐतिहासिक देव भी हुये हैं यथा अदिति के द्वादश पुत्र (आदित्य), एवं अग्नि ही अङ्गिरा (ऋषि) का नाम था।

अपुरुषविध देवता प्राचीन मान्यता के अनुसार कर्मात्मा (पुरुषविध) या कर्मानुसार अङ्ग बना लेते हैं जैसे रामायण में अग्नि का पुरुषरूप।

पृथिवीस्थानदेवगण

पृथिवीस्थान देवताओं में अग्नि प्रमुख है। इसके अतिरिक्त पृथिवीस्थानीय देवों के अन्य अनेक वर्ग हैं। यथा प्रथम आप्रीवर्ग में ये द्वादश देवता स्तुत किये गये हैं - (1) इध्मः (2) तनूनपात् (3) नराशंस (यज्ञ या अग्नि), इलः (5) वर्हिः (6) द्वारः (7) उषासानक्ता (8) दैव्या होतरा (9) तीन देवियाँ (तिस्रो देव्यः भारती, इला और सरस्वती) (10) त्वष्टा (11) वनस्पतिः (यूपः) (12) स्वाहाकृतयः (हवियाँ)। इन द्वादश आप्री देवताओं का सम्बन्ध यज्ञ से है। इन द्वादश देवताओं के दिव्य और अदिव्य (पार्थिव) दोनों रूप हैं, इनका विवेचन आगे किया जायेगा।

पृथिवीस्थसत्त्वों का द्वितीयवर्ग भी देवता माना गया है, ये भी यज्ञिय पदार्थ (जीवादि) हैं— (1) अश्वः (2) शकुनिः (3) मण्डूकः (4) अक्षाः (द्यूतपाश) (5) ग्रावाणः (सोमप्रस्तर) (6) नाराशंसः (7), रथः (8), दुन्दुभिः (9) इषुधिः (तरकस), (10) हस्तघ्न, (11) अभीशवः (12) धनुः (13) ज्या (14) इषुः (15) अश्वाजनी (16) उलूखलम् (17) वृषभः (18) द्रुघणः (19) पितुः (20) नद्यः (त्रिसप्तक) — 21 नदियाँ, (21) आपः (22) ओषधयः (23) रात्रिः (24) अरण्यानी (25) श्रद्धा (26) पृथिवी (27) अप्वा (28) अग्नायी (29) उलूखलमुसले (30) हविर्धाने (31) द्यावापृथिवी (32) विपाट्छुतुद्रयौ (33) आर्त्नी (34) शुनासीरौ (35) देवी जोष्ट्री (36) देवी ऊर्जाहुती।

अग्नि—पृथिवीस्थान अग्नि ही वेद का प्रमुख देवता है, अन्तरिक्ष में विद्युत्-रूप में इन्द्र और द्युलोक में आदित्यरूप में ज्वाजल्यमान सूर्य है। वेद में 'अग्नि' या इसके प्राचीनतर नाम 'इन्द्र' की इस प्रचुरता से स्तुति है और इसकी इतनी महिमा गाई गई है जितनी ईश्वर की गाई जा सकती है, स्वामी दयानन्द सरस्वती तो इन्द्र, अग्नि आदि को ईश्वर के पर्याय ही मानते थे, इस मत की पुष्टि 'इन्द्रं' मित्र' मन्त्र तथा अन्य मन्त्रों से की जा सकती है।

वेदमंत्रों में अग्नि के अनेक प्रधान नाम हैं, यथा, अग्नि, जातवेदा:, वैश्वानरः द्रविणोदा: इत्यादि ।

ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में ही अग्नि का स्तवन है —

'अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।' (1-1-1)

अग्नि के इतने विशेषण इस मंत्र में हैं- अग्नि (अग्रणी-नेता) पुरोहित, देव, ऋत्विज् ऋतुयाजी या सत्योत्पादक होता और रत्नधाता (या रत्नदाता)।

अग्नि के पाँच निर्वचन यास्काचार्य ने किये है—

(1) **अग्रणीर्भवति**—अग्रणी: शब्द का ही एकरूप अग्नि है जो आगे ले जाता है—या अन्धकार में मार्ग दिखाता है, वह अग्रणी यानी आगे ले जाने वाला है यही अर्थ पुरोहित शब्द का है।

(2) **अग्रे यज्ञेषु प्रणीयते**—यज्ञ में सर्वप्रथम (आगे) लाया या जलाया जाता है—अत: उसकी अग्नि संज्ञा हुई । शौनक ने और स्पष्ट किया है—

जातो यदग्रे भूतानामग्रणीरध्वरे च यत् । (बृहद्दे० 2-24)

'जो तत्वों में सर्वप्रथम या यज्ञ में सबसे आगे रहता है ।'

(3) **अंगं नयति सन्नममान:** झुकता (नमन) हुआ अन्य वस्तु को अपना अङ्ग (अंश) बना लेता है ।

(4) **अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीवि:**—स्थौलाष्ठीवि आचार्य के मत में यह नाम इसलिये है कि यह प्रत्येक वस्तु को गीली से सूखा (न क्नोपयति, न स्नेहयति) बना देता है।

(5) **त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते**—आचार्य शाकपूणि के मत में 'अग्नि' पद तीन धातुओं से बना है—√इ (या इण), √अञ्ज और √दह् से जिनका क्रमश: अर्थ है गति, प्रकाश और जलाना तथा चतुर्थ धातु √नी (ले जाने) का भी समावेश किया है, क्योंकि यह हवि: या प्राणियों को देवों तक ले जाता है । तदनुसार एति से अकार, अनक्ति से गकार और दहति या नयति से 'नी' ग्रहण किया गया है।

पृथिवीस्थान अग्नि: का नाम ही अग्नि है, मध्यस्थानी अग्नि को जातवेदस् वानस्पत्य, पावक, इंद्र या विद्युत् आदि का कहा गया है और द्युलोकस्थ अग्नि के शुचि:, वैश्वानरः भरत:, सूर्य आदि नाम वेद में कथित है।

वर्तमान वेदमंत्रों में इस तथ्य का बहुधा उल्लेख है कि पूर्व (प्राचीन) ऋषियों और नवीन ऋषियों ने अग्नि की स्तुति की थी। प्राचीन ऋषि अङ्गिरा, कश्यप, भृगु, अथर्वा, दक्ष आदि ने इन्द्र नाम से अग्नि की स्तुति की थी। नवीनमंत्रों में 'इन्द्र' का स्थान 'अग्नि' ने ले लिया और इन्द्र का रूप नवीनमंत्रों में कुछ बदल गया। वह विद्युत् या वायु माना जाने लगा।

यास्क ने लिखा है—'स न मन्येतायमेवाग्निरिति । अपि एते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते ।' (नि० 7-16) ।

'यह नहीं समझना चाहिये कि यह (पार्थिव) अग्नि ही एकमात्र अग्नि है दोनों ऊपर के (मध्यस्थानी और द्युस्थानी) ज्योति भी अग्नि है, यथा निम्न मंत्र में अन्तरिक्षस्थ अग्नि का उल्लेख है जो जातवेदा: कहा गया है—

घृतस्य धारा: समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदा: ।

यहाँ घृतपद मेघजल का पर्याय है । ऋ० 4-58-8)

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट् (ऋ० 4-58-1)

इस ऋचा में समुद्र (आकाश) से सूर्य (अग्नि) के उठने का वर्णन है । इसी अग्नि के त्रिलोकस्थ अनेकरूप इस मंत्र में कथित हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य: स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु: ।।

इस मंत्र से भी सिद्ध होता है कि इन्द्र अग्नि का ही प्राचीनतर नाम था । उत्तरकाल में इन्द्र वायु या मध्यमस्थानी वैद्युताग्नि माना गया । दिव्य सुपर्ण गरुत्मान्' स्पष्ट ही सूर्य का विशेषण है । यह दिव्याग्नि है । इतिहास में कश्यप पुत्र वैनतेय का नाम भी सुपर्ण गरुत्मान् (गरुड़) था । ऋषियों ने इतिहास की छाया को भी ऋचाओं में ग्रहण किया है, यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि मानवसम्बन्धी किसी भी बात को इतिहास से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता ।

जातवेदस्—जिस प्रकार 'इन्द्र' अग्नि का प्राचीनतर नाम था, उसी प्रकार 'इन्द्र' से प्राचीनतर अग्नि नाम 'जातवेदस्' था । कश्यप ऋषि ने देवराज इन्द्र के जन्म से पूर्व अग्नि की जातवेदस् और इन्द्रनाम से स्तुति की थी । महर्षि कश्यप के पुरातन ऋग्वेद (प्राजापत्यश्रुति) में 1000 सूक्त और 500499 मंत्र थे । इन मंत्रों में प्रमुखत अग्नि की जातवेदस् के नाम से स्तुति थी, इसकी पुष्टि आचार्य शौनक के बृहद्देवता, वेदभाष्यकार स्कन्द के ऋग्भाष्य, और षड्गुरुशिष्यकृत सर्वानुक्रमणीवृत्ति से होती है—

जातवेदस्यं सूक्तहस्रमेकमैन्द्रात्पूर्वं कश्यपस्यार्षं वदन्ति ।
जातवेदस्य सूक्तमाद्यं तु तेषाम् एकभूयस्त्वं मन्यते शाकपूणि: ।।

(बृहद्० 3-190)

कश्यप ने एक सहस्र जातवेदस्य सूक्त रचे थे, इंद्र से पूर्व जातवेदस् की स्तुति की गई थी। इनमें जातवेदस्यसूक्त आदिम था और उत्तरोत्तरसूक्त में एक मन्त्र बढ़ जाता था, ऐसा शाकपूणि का मत था ।

शौनक द्वारा प्राचीन वेदाचार्य शाकपूणि का मत लिखने से स्पष्ट है कि शौनक के समय ही काश्यपीयऋग्वेद लुप्त था, निश्चय ही उस पुरातनलुप्तऋग्वेद के अनेक मन्त्र वर्तमान ऋग्वेद में है इसीलिये ऋषि ने कहा है कि नूतन और पुरातनमन्त्रों में ऋषियों ने अग्नि की स्तुति की थी—

'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।' (ऋ० 1-1-2)

इस तथ्य में कुछ विशेषतायें थीं, अतः ऋषियों ने इसका अनेकश उल्लेख किया है। एक विशेषता अग्नि के नामों की थी, आधुनिक ऋग्वेद में 'अग्नि की प्रधानता है, पुरातनमन्त्रों में अग्नि के नाम जातवेदस् और इन्द्र की प्रधानता थी।

जिस प्रकार अग्नि या इन्द्र या आदित्य पद के अनेक अर्थनिर्वचन किये गये हैं उसी प्रकार जातवेदस् के अनेक निर्वचन किये गये हैं—

(1) **जातानि वेद**—जो उत्पन्न पदार्थों (जीवादि) को जानता है।

(2) **जातानि वैनं विदुः**—उत्पन्न हुये इसको जानते हैं।

(3) **जाते-जाते विद्यते**—पुनः पुनः पैदा होता हुआ वर्तमान रहता है।

(4) **जातवित्तो वा जातप्रज्ञानः**—उत्पन्न होते ही ज्ञात हो जाता है, अथवा उत्पन्न होते ही पदार्थों का (प्रकाश से) ज्ञान करता है।

ब्राह्मणप्रवचन है—'यज्जातः पशूनविन्दत।' (मै० सं० 1-8-2)

'जो उत्पन्न होते ही पशु (प्राणियों) को प्राप्त होता है।' यहाँ जातवेदस् में विद्लृ (लाभे) धातु है, क्योंकि उत्पन्न होते ही पशु और मनुष्य आग की ओर सरकते हैं और उसे प्राप्त करते हैं—'तस्मात्सर्वानृतून् पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति' (मै० सं० 1-8-2) यही अर्थ निर्वचन शतपथब्राह्मण में।

'यत् तत् जातं जातं विन्दते तस्मात् जातवेदाः।'

(श. ब्रा. 9-5-1-68)

उत्पन्न भूतों या प्रजा ने इसे प्राप्त किया, इसलिये यह अग्नि जातवेदाः है। उपर्युक्तप्रकरण में पशु का अर्थ मनुष्य समझना चाहिये, क्योंकि मनुष्य ही आग की ओर जाते हैं अन्य पशु आग देखकर भागते हैं।

वायु की उत्पत्ति (द्रव या ठोस पदार्थ से) अग्निसंयोग के बिना नहीं हो सकती अतः वायु में आग्नेयांश प्रचुरयात्रा में है, इसीलिए वायु को जातवेदाः कहा गया है—'वायुर्वैजातवेदाः' (ऐ० ब्रा० 2-34) वायुवेष्टित वैद्युताग्नि ही इन्द्र या जातवेदस् कहा गया है, जो अन्तरिक्षस्थानी है, आचार्य शौनक ने स्पष्ट किया है—

'तेनैष मध्यभागेन्द्रो जातवेदा इति स्तुतः (बृहद्दे० 2-31)

'मध्यमस्थानी (अन्तरिक्षस्थ) अग्नि (वायुवेष्टित विद्युत्) ही इन्द्र या जातवेदस् है।

यास्क के मत में सम्पूर्ण दाशतयी (ऋग्वेद) में एक तृच सूक्त (10-18-8) मंत्र जातवेदस् अग्निपरक है, इसका एक मंत्र है।

'प्रनूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्।' (ऋ० 10-188-1)

सूर्य को भी जातवेदा कहा गया है--

'उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ।
(ऋ० 1-50-1)

अतः जातवेदस् त्रिलोकस्थ अग्नि ही था ।

महाभारतकाल से पूर्व जातवेदस् के सहस्र काश्यपसूक्त थे, इस समय केवल एक तृच (तीन ऋचावाला) सूक्त ही जातवेदस्य है।

वैश्वानर :—मध्यमस्थानी अग्नि या वायु (मरुद्गण) ही वैश्वानर है अग्नि का सम्बन्ध पृथ्वी से सूर्य तक रहता है । पृथ्वी के जल को वह सूक्ष्मकिरणों (ताप) द्वारा अन्तरिक्ष में पहुँचाता है अतः वैश्वानर का मुख्य सम्बन्ध वर्षा से है। इन्द्र और मरुतों का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है । सूर्य से प्राप्त पार्थिव अग्नि (ताप) से मेघ बनते हैं, इसीलिए कहा हैं—

'भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः । ऋ० 1-164-51)

'पर्जन्य (मेघ) भूमि को तृप्त करते हैं और पृथिवी के अग्निद्युलोक को तृप्त करते हैं।' अतः सूर्य भी वैश्वानर कहा जाता है—'दिवि पृष्ठो अरोचत(यजु० 33-92) तथा यह मन्त्र सौर्यवैश्वानरीय है—

हविष्पान्तमरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौं ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधयापप्रथन्त ।

(ऋ० 10-88-1)

'हवि को पान करने वाली अजर सेवनीय या प्रिय आहुति प्रतिदिन स्वर्ग को प्राप्त करने वाले आदित्याग्नि में हुत की है, उससे भरण होने के लिए और धारण के लिये स्वधा (अन्न या शक्ति) से देवों ने 'क' प्रजापति को प्रथित किया ।

आदित्य ही वैश्वानराग्नि है इसकी पुष्टि में यह मन्त्र उदाहर्त्तव्य है—

विश्वस्मा अग्नि भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन् ।।
(ऋ. 10-8-12)

'दिनों के प्रख्यापक (केतु) विश्वाग्नि सूर्य को देवों ने किया, (बनाया) ।

आचार्य शाकपूणि के मत में यह पार्थिव अग्नि ही वैश्वानर है, यह उत्तर ज्योतियों (माध्यमिक विद्युत् और (द्युलोकीय सूर्य) से या विश्वानरों से उत्पन्न होता है, अतः वैश्वानर है । इसी पार्थिव अग्नि के सम्बन्ध में कहा है कि यह सूर्य से मिलता है—'इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण; (ऋ० 1-89-1) ।

अत: वैश्वानर त्रैलोकस्थ अग्नि का अभिधान है, परन्तु ऋषिगण सदा पार्थिव अग्नि से यज्ञसाधन करते थे, अत: उसकी विशेष स्तुति है, दिव्य ज्योतियों की स्तुति गौण है—

मूर्द्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् ।
मायामू तु यज्ञिनामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ।।

(ऋ० 10-88-6)

रात्रि में यह पार्थिव अग्नि मूर्धा (शिर) होता है, प्रातः सूर्यरूप में उगता है । पुनः प्रज्वलित हुआ शीघ्र सर्वस्थानों में विचरण करता है, यह यज्ञिय (पूज्य) देवों की ही अद्भुत माया है ।' यह वैश्वानर अग्नि त्रेधा (तीन प्रकार की) है यह मंत्रों में स्पष्ट कहा है—

तमू अकृण्वँस्त्रेधा भुवे कं स औषधीः पचति विश्वरूपाः ।

(ऋ० 10-88-10)

आदित्यरूप में स्तुति का प्रसिद्ध मन्त्र है —

"यदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्" ।

(ऋ० 10-88-11)

'यज्ञिय देवों के अदिति=प्रकृति या पृथ्वी, (उसका पुत्र) सूर्य को द्युलोक में स्थापित किया ।"

द्रविणोदाः—जिस प्रकार अग्नि की एक प्राचीनसंज्ञा इन्द्र थी, उसी प्रकार द्रविणोदा: इसी अग्नि का अभिधान था । यास्काचार्य ने इस शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—'धनं' द्रविणमुच्यते तदेनदभिद्रवन्ति । बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति । तस्य दाता द्रविणोदाः ।" (नि० 8-1) । 'धन ही द्रविण है अथवा बल ही द्रविण है क्योंकि लोग इनकी ओर दौड़ते हैं अथवा इनसे कार्य सम्पादन करते है धन या बल का दाता है अग्नि ।

आचार्य शौनक ने क्रौष्टुकि के मत बतलाया है कि द्रविणोदाः पार्थिव अग्नि है, बल और वित्त का दाता होने से वही प्रदीप्त अग्नि (इन्द्र) द्रविणोदा: है—

पार्थिवो द्रविणोदोऽग्निः पुरस्ताद् यस्तु कीर्तितः ।
तमाहुरिन्द्रं दातृत्वादेके तु बलवित्तयोः ।। (बृह० 3-61)

आचार्य कुत्स के मत में अग्नि धन या बलरूपी द्रविण का दाता है अतः द्रविणोदाः है—

द्रविणं बलं वापि प्रायच्छद्येन कर्मणा ।
तत्कर्म दृष्ट्वा कुत्सस्तु प्राहैनं द्रविणोदसम् ।। (बृ० 2-25)

कौष्टुकि के मत को उद्धृत करते हुये यास्काचार्य ने लिखा है 'द्रविणोदा: कौन है, कौष्टुकि मत में इन्द्र है, क्योंकि वही बल ओर धन का श्रेष्ठ दाता है। इसकी पुष्टि में यह मन्त्र उद्धृत किया है—'प्रजज्ञ इन्द्रो अस्य वेद' (ऋ० 10-73-10) यह इन्द्र मध्यम अग्नि विद्युत् है, जिससे पार्थिव अग्निउत्पन्न होती है—'यो अश्मनोरन्तरग्निम्जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः। (ऋ० 2-12-3)

यह द्रविणोदा इन्द्र (अग्नि) सोमपान करता है। यही सहस्पुत्र या बल का पुत्र है, यही ऋषिपुत्र यही ऋत्विज् है। इन्द्रपान नाम के पात्र में यही द्रविणोदा अग्नि इन्द्र सोमपान करता है। ऐतरेयब्राह्मण (22-4) के ऋतुयाजसंज्ञक चार मन्त्रों के अन्त में वाक्य है—

'सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः' (ऋ० 2-२0-1-4)

अतः द्रविणोदा इन्द्र (अग्नि) की सोमपान के अवसर पर स्तुति की जाती है, अन्यत्र मन्त्रों में अग्नि को स्पष्ट ही सोमपाता कहा गया है—

'अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भिर्ऋक्वभिः सोमं पिब
मन्दसानो गणश्रिभिः।'' (ऋ० 5-60-8)

अत: मरुद्गणों का पति इन्द्र अग्नि का ही अपर नाम है।

शाकपूणि के मत में भी द्रविणोदा अग्नि का ही नाम है—'देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम्' (ऋ० 1।96-1)।

आप्री देवता

द्वादश आप्रीदेवता शुद्धतः यज्ञियसाधन, उपकरण और यज्ञकर्ता आदि हैं। ये देवता यज्ञाङ्ग प्रयाज और अनुयाज में स्तुत किये जाते हैं। ये प्रयाज और अनुयाज आहुतियां अग्नि देवता के लिये दी जाती है—'आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजा इति च ब्राह्मणम्', (नि० 8-21)। यज्ञ के प्रारम्भ में जो पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं वे प्रयाज और यज्ञान्त में आहुतियां हुत की जाती हैं वे अनुयाज कहलाती हैं। मन्त्र में कथन है—

तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवलं ऊर्जस्वन्तो
हविषः सन्तु भागाः।
तवाग्ने यज्ञोऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः॥

(ऋ० 10-51-9)

'यज्ञ हवि: के ऊर्जस्वान् भाग प्रयाज और अनुयाज हैं। हे अग्ने! यह यज्ञ सर्वांश में आपके लिये ही है। सभी दिशाओं के निवासी तुमको नमस्कार करते हैं।

---

1. प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे (अष्टा०)

आप्रीमन्त्रों को ही याज्या भी कहते हैं ।

ऋग्वेद में क्रम से अग्न्यादि देवताओं की प्रत्येक मण्डल में स्तुतियां संकलित है, अतः आप्रीमन्त्र भी प्रत्येक मण्डल में मिलते हैं। आप्रीसूक्तों के द्रष्टा ऋषि क्रमशः हैं—

प्रथम मण्डल (1।13) मेघातिथि काण्व, 12 मन्त्र ।

इसी प्रकार दीर्घतमा, अगस्त्य, गृत्समद, विश्वामित्र, वसुश्रुत आत्रेय, वसिष्ठ, असित काश्यप, सुमित्र वाध्र्यश्व और जमदग्नि भार्गव के आप्रीसूक्त हैं। अधिकांश आप्रीसूक्तों में 11-11 मन्त्र हैं ।

यास्क ने दशम मण्डल (10।10) में जो कि जामदग्न्यसूक्त है, उन आप्री मन्त्रों को उद्धृत किया है । यज्ञविद्या और यज्ञपरम्परा में भार्गव ऋषियों का विशेष महत्व था, इसीलिये वासुदेव कृष्ण ने कहा है—

'महर्षीणां भृगुरहम्', (**गीता** 10।25)

भार्गवों के मन्त्र सर्वसाधारणतः मन्त्रों में प्रयुक्त होते थे, अतः यास्क ने उन्हीं को उद्धृत किया है, परन्तु जामदग्न्यआप्रीसूक्त में नाराशंस मन्त्र नहीं है, नाराशंसी ऋचा वासिष्ठसूक्त (ऋ० 7।2) से लेने का विधान है ।

समस्त आप्रीसूक्तों में देवताओं क्रम समान है ।

सर्वप्रथम 'इध्मः' आप्रीदेवता है, इसकी ऋचा यास्क ने यह उद्धृत की है— समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः । आ च वह मित्रमहश्च-चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥" (ऋ० 10-11-1)

आचार्य कात्थक्य के मत में यह यज्ञेध्म की स्तुति है, शाकपूणि के मत में यह अग्नि की स्तुति है ।

इसके अनन्तर तनूनपात्, नराशंस, इड, उषानक्ता, तिस्रो देव्यः आदि की स्तुति है। कात्थक्य के मत में तनूनपात् आज्य (घृत) है, शाकपूणिमत में यह अग्नि का नाम है।

कात्थक्य के मत में नाराशंस यज्ञ हैं—"नरा अस्मिन्नासीना शंसन्ति" 'मनुष्य इस (यज्ञ) में बैठकर स्तुति करते हैं।' शाकपूणि के मत में यह भी अग्नि का नाम है ।

'ईड' स्तुतिकर्म के अर्थ में हैं, इसका अर्थ पृथ्वी, अन्न वाग् आदि होता है, यज्ञिय भक्ष को इडा कहते हैं। मुसलमानों के 'ईद' में यही परम्परा अवशिष्ट है । वह अग्नि का नाम भी है ।

बर्हिः कुश का नाम दे । बर्हिः यज्ञ का प्रमुख उपकरण था ।

यज्ञशाला (प्राचीनवंश) के दरवाजे 'देवीः द्वार' भी द्वादश आप्रीदेवताओं में सम्मिलित थे—

'देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रयाणाः' (ऋ० 10-11-5)

कात्थक्य के मत में यह यज्ञगृहद्वार की स्तुति है। शाकपूणि इसे भी अग्नि स्तुति मानते थे।

उषाः और नक्ता (रात्रि और प्रातः) का नाम ही उपासनक्ता था। ये भी एक युगल आप्री देवता थे।

दैव्याहोतारा—यह पार्थिव अग्नि और मध्यम अग्नि (विद्युत्) का नाम था। अथवा होता नाम के ऋत्विक् और अग्नि की यह स्तुति की जाती थी, क्योंकि होता (अग्नि और पुरोहित) यज्ञ के साधक थे।

तिस्रः देव्य—भारती इला और सरस्वती—ये तीन यज्ञदेवियाँ प्रमुख आप्रीदेवता थी, इनकी स्तुति ऋषिगण उदात्तभाव से करते थे—

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विला मनुष्यवदिह चेतयन्ती तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु ॥(ऋ० 10-110-8)

'मनुष्य के समान ज्ञानवती (चैतन्य) भारती (भरत आदित्यस्तस्य भाः—सूर्यप्रकाश) इला (अग्नि या पृथिवी) और सरस्वती (वाणी या नदी)—ये तीनों देवियाँ—शोभन कर्मवाली—बहुत सुख से यज्ञ में बैठें।''

त्वष्टा—यह सूर्य वा दैवीय बढ़ई या लौकिक बढ़ई का उपलक्षक था, क्योंकि यज्ञोपकरणों (काष्ठों) के निर्माण में त्वष्टा (तक्षा—बढ़ई) का महान् योगदान होता था, अतः वह भी पूजनीय था। आदित्य (अदितिपुत्र) त्वष्टा असुरों का पुरोहित (याज्ञिक) और महान् शिल्पी था। इनकी पुत्री सरण्यू विवस्वान् सूर्य की पत्नी थी, जिससे अश्विनीकुमार उत्पन्न हुये। त्वष्टा का पुत्र ही महान् असुर वृत्र था, जिसका वध इन्द्र ने किया। त्वष्टा के शिष्य ऋभु, विभ्वा मौर वाज (आङ्गिरस) इनसे भी बढ़कर महान् शिल्पी हुये। अतः त्वष्टा (तक्षा) ब्राह्मणतुल्य पूज्य माने जाते थे। यज्ञ में यह एक आप्री देवता था।

नैरुक्तों के मत में त्वष्टा माध्यमिक (अन्तरिक्षस्थानीय) देव हैं। शाकपूणि के मत में यह अग्नि ही है।

वनस्पतिः—कात्थक्य के मत में यह यूपकाष्ठ है। शाकपूणि के मत में अग्नि है।

अन्तिम आप्रीदेवता स्वाहाकृतयः=यज्ञ के लिये स्वावाग्युक्त आहुतियाँ स्वाहाकृति हैं—

'स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः (ऋ० 10-110-11)

पाँच प्रयाज आहुतियां पाँच ऋतुयें हैं: अथवा छन्द या पशु भी माने गये हैं, इनके लिये ये आहुतियाँ दी जाती है। प्राण और आत्मा (शरीर) को भी प्रयाज और अनुयाज कहते हैं।

पार्थिवसत्त्वदेवता

अश्वादि 36 पार्थिव सत्त्वदैवतों का परिगणन पूर्वपृष्ठों पर किया जा चुका है। ऋग्वेद में यत्र-तत्र इनकी स्तुति मिलती है।

अश्व:—प्राचीन भारत में अश्व का महत्व स्पष्टत ही अद्वितीय था। यह बल और वीर्य का प्रतीक एवं सूर्य अथवा प्रजापति का प्रतीक माना जाता था। अश्व से सम्बन्धित अश्वमेधयज्ञों में सबसे महान् और पुण्यतम यज्ञ माना जाता था।

अश्व के 26 पर्याय निघण्टु (1-14) में संग्रहीत है। √अश से अश्व शब्द बना है, जिसके अर्थ है व्याप्त करना, भोजन करना या प्राप्त करना। प्राचीन भारत में अश्व (Horse) की गति (चाल) और शक्ति के आधार पर इनका मान निर्धारित होता था, जो आज भी 'होर्सपावर' के नाम से प्रचलित है। वेद में देवजात अश्व की महान् महिमा गाई गई हैं—'यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि" (ऋ० 1-162-1)

शकुनि :—यह √शक् में क्विप् और इन् प्रत्ययों को लगाकर बना हुआ है, इस सम्बन्ध में मन्त्र उद्धृत है—

भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद।
भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात्कपिञ्जल ॥

मण्डूक—संवत्सरज्ञों में मण्डूक (मेंढ़क) का प्रयोग किया जाता था। मण्डूक की स्तुति वासिष्ठसूक्त (ऋ० 7-103-1) में प्रसिद्ध है—

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्रमण्डूका अवादिषुः ॥

इनके अनन्तर-अक्ष (द्यूताक्ष) का व्याख्यान है। ऋग्वेद का अक्षसूक्त (10-34) प्रसिद्ध है। इसमें द्यूत की निन्दा है।

ग्रावाण :—अनन्तर सोम को कूटने वाले ग्रावाणः की यास्क ने व्याख्या की है।

नाराशंस—ऋग्वेद के जिन मन्त्रों में राजाओं के महान् और उदात्त कर्मों, तथा उच्चावच दानों की प्रशंसा की गई है, वे मन्त्र नाराशंस कहलाते हैं—

येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्रः।

ऋग्वेद ने ऐसी दानस्तुतियाँ पर्याप्त मिलती हैं।

यज्ञ (में दानादि) के कारण राजा की स्तुति की गई हैं और राजसंयोग से युद्धोपकरणों की स्तुतियां की गई हैं। स्तुत युद्धोपकरणों में रथ, दुन्दुभि, इषुधि (तरकस), हस्तघ्न (दस्ताना), अभीशु, धनुः, ज्या, इषु (वाण) और अश्वाजनी (कशा=चाबुक) हैं।

तदनन्तर उलूखलस्तुति की निगद व्याख्यात है ।

वृषभ :—अश्व के अनन्तर प्राचीन भारत में वृषभ का महत्व था । ऋग्वेद में वृषभ कों बहुधा स्तुति है, यह मात्र बैल नहीं है । परन्तु इस प्रकरण में यह बैल का ही कथन है । इतिहास है है कि मुद्गल भार्म्यश्व पञ्चालनेरश ने वृषभ और द्रुघण (मुद्गर) से संग्राम में आजि (वाजी) की जीता -

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जङ्काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम् ।
येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु ॥
(ऋ० 10-102-9)

पितुः - यह अन्न का नाम है, जिससे अंग्रेजी का फूड (Food) शब्द निष्पन्न है ।

नद्यः निम्न नदियों का यास्क ने इस प्रकरण निर्वचन (9/3) किया है । यथा गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शतुद्री, इरावती, परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृधाः, वितस्ता, आर्जीकीया (विपाट्), गङ्गा गमनात्=गमन करने से गङ्गा नाम पड़ा, मिश्रण या संयोग करने से यमुना, (प्रयुवती गच्छतीति), 'सरस्' यह जल (उदक) का नाम है, तद्वती हुई सरस्वती । शु या शीघ्र द्रविणी होने से शुतुद्री, इरा (जल) वती को, पर्ववती होने से परुष्णी, असितवर्णा असिक्नी, मरुतों से वृद्ध मरुद्वृधा, विवृद्धा या विस्तृता ही वितस्ता । ऋजीक पर्वत से निकलने के कारण आर्जकीया नदी को विपाट् कहते हैं । इस सम्बन्ध में यास्क ने लिखा है—

पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः
तस्माद्विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा ॥ (नि० 9-3-25)

'इस नदी में वसिष्ठ के पाश (फांसी) खुल गये, इसलिए इसका नाम विपाशा (व्यास) नदी पड़ा, पहिले इसका नाम उरुञ्जिरा था ।'

तदनन्तर यज्ञ के साधन पृथिवीस्थ सत्व-आपः औषधिः, रात्रिः, अरण्यानी-अरण्यस्य वनस्य पत्नी-अरण्यम् अरमणीयम्) श्रद्धा (सत्यवाक्), पृथिवी; आप्व (व्याधि) अग्नायी अग्निपत्नी का व्याख्यान है ।

अष्ट द्वन्द्व — तदनन्तर यास्क ने आठ द्वन्द्व यज्ञोपकरणों या देवताओं का व्याख्यान किया है । ये है—उलूखलमुसले हविर्धाने, द्यावापृथिवी विपाट्शुतुद्री आर्त्नी (धनुष्कोटि), शुनासीरौ और देवी जोष्ट्री, । इनमें तीन अन्तिमों का व्याख्यान इस प्रकार है ।

शुनासीरौ—'शुनो वायुः शु एत्यन्तरिक्षे, सीर आदित्यः सरणात् ।' (नि० 9-4-40) 'शुनः वायु का नाम है और सीरः आदित्य सूर्य है । ये दोनों देवता चातुर्मास्य ऋतुयज्ञों विशेषतः कृषियज्ञों में स्तुत किये जाते थे । वायु और सूर्य के द्वारा वर्षा होती थी अतः मंत्र में स्तुति है—शुनासीराविमं वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः । तेनेमामुप सिञ्चतम् । (ऋ० 4-57-5)

हे शुनासीरौ (वायो और आदित्य) आप इस यज्ञ में प्रवर्तित वाणी को सुनो जिससे आपने आकाश में पयः (जल) उत्पन्न किया। इस जल से पृथिवी को सींचो। अर्थात मेघों से वर्षा करो।'

देवी जोष्ट्री—यास्क के मत में ये द्यावापृथिवी, या अहोरात्र है। कात्थक्य के मत में शस्य (फसल) और समा (वर्ष) हैं।

देवी ऊर्जाहुती— यह भी पूर्वमतों के अनुसार द्यावापृथिवी, अहोरात्र या शस्य और समा है।

इन सबका सम्बन्ध कृषियज्ञों से था। प्राचीनभारत में प्रत्येक, श्रेष्ठ (वैयक्तिक या सामाजिक) कर्म यज्ञ माना जाता था—'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (श० ब्रा०) अतः खेती एक प्रमुख यज्ञ था। ब्राह्मणग्रन्थों एवं कल्पसूत्रों के वर्णनों से यह पूर्णतः सिद्ध होता है।

उपर्युक्त सभी सत्त्वों का यज्ञसम्पादन में योगदान था, अतः यज्ञ में इनकी स्तुति की जाती थी।

अन्तरिक्षस्थानीय देवता

पृथिवी और सूर्य के मध्यवर्ती अवकाश को अन्तरिक्ष कहते हैं, इसको ही भुवः कहते हैं जो गायत्रीमन्त्रोल्लिखित द्वितीयलोक है, इसीको आधुनिकभाषा में 'वायुमण्डल' कहते हैं।

अन्तरिक्ष का प्रमुख उपयोग पृथिवीवासी मानव के लिए वायु और वर्षा है। ये दोनों (वायु और वर्षाजल) तथा सूर्य ही जीवन के आधार है। अंतरिक्ष का प्रमुख देव वायु या इन्द्र है। यह इन्द्र मेघस्थित वैद्युताग्नि ही है। इसी को रुद्र, मरुत आदि नामों से वेद में कहा गया है इन सबका क्रमिकवर्णन इस प्रकरण में किया जायेगा।

प्राकृतिक सृष्टियज्ञ के अनुकरण पर अन्तरिक्षलोक (इन्द्रदेवता) का सम्बन्ध (सोमक्रतु में) माध्यदिनसवन, ग्रीष्मर्तु, त्रिष्टुभछन्द, पंचदश स्तोम, अग्नि (विद्युत्) सोम,, वरुण, पूषा, बृहस्पति, पर्वत, कुत्स विष्णु, वायु तथा स्त्री देवता अदिति, सरमा आदि से है।

इन्द्र का प्रधानकर्म निरुक्त में इस प्रकार कहा गया है—

'अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधो या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्' रस (जल) का अनुप्रदान, वृत्रवध (दुष्टनाश) और जो भी (क्षत्रिय का राजा का) बलकर्म है, वह सब इन्द्र का कर्म है।

मित्र के साथ वरुण की, पूषा के साथ इद्र और सोम की अग्नि के साथ पूषा की और वात के साथ पर्जन्य की स्तुति की गई है।

वायु—पूर्वकालीन ऋषियों के मंत्रों में, जो प्रायः लुप्त हैं, अग्नि की ही इन्द्र नाम से स्तुति थी, उत्तरकालीनमन्त्रों में, जो उपलब्ध हैं, वायु (मेघ) और उसकी शक्ति विद्युत् की संज्ञा ही प्रधानतः इन्द्र हुई। इस समय ऋग्वेद में अग्नि और इन्द्र के मन्त्रों की ही प्रधानता है जो मूल में एक ही देवता थे।

अन्तरिक्ष में वायु की प्रमुखता है। यजुर्वेद में प्रथम और प्रमुख देवता वायु है ओर ऋग्वेद में अग्नि है। यास्क ने वायुस्तुतिपरक यह मन्त्र उदाहृत किया है—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः। तेषां पाहि श्रुधीहवम्।
(ऋ० 1-2-1)

'हे वायो। ये दर्शनीय अलंकृत या शुद्ध सोम हैं। उनको पीओ और हमारे आह्वान को सुनो।

वायु को वात भी कहते हैं। इन दोनों शब्दों (वायु और वात) की व्युत्पत्ति वा से हुई है। वायु शब्द मूलत 'आयुः' था, इसमें वा शब्द निरर्थक है ऐसा आचार्य स्थौलाष्ठीवि का मत था जिसकी पुष्टि ऋग्वेद के निम्न मन्त्रों से होती है—

अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतो जुषन्त ॥ (ऋ० 9-67-8)
आयुः पवत आयवे। (5-4-1)

√या, या √यु से आयुः पद निष्पन्न है, क्योंकि वायु जाता है (चलता है) और मिश्रण करता है। वायु को प्राण भी कहते हैं, आयु और प्राण प्रायः समानार्थक अर्थात् जीवनद्योतक पद है। नैरुक्तिक निर्वचन इस प्रकार है—'वायुर्वातेर्वेतेर्वा गतिकर्मण' एतेरिति स्थौलाष्ठीविः' (नि० 1-1) √या और √वा दोनों ही गतिकर्मा है। आचार्य शौनक ने वायुपद का निर्वचन इस प्रकार किया है—

अणिष्ठ एष यत्तु त्रीन्व्याप्यैको व्योम्नि तिष्ठति।
तेनैनमृषयोऽर्चन्त कर्मणा वायुमब्रुवन् ॥ (वृहद्दे० 2-32)

'यह आकाश में सूक्ष्मरूप से रहता हुआ तीनों लोकों को व्याप्त करता है, इस कर्म के कारण ऋषिगण अर्चना करते हुए ऐसा कहते हैं।

वरुण—वायु के आर्द्ररूप को, जो मेघ के रूप में संसार को आवृत करता है, वरुण कहते थे—

त्रीणीमान्यावृणोत्येको मूर्तंन तू रसेन यत्।
तयैनं वरुणं शक्त्या स्तुतिष्वाहुः कृपण्यवः ॥ (वृहद्द० 2।33)

ऋग्वेद के मन्त्रों में वरुण के साथ प्रायः असुर विशेषण आता है, अतः आधुनिक अन्वेषकों का मत है कि वरुण का असुरों (दैत्यदानवों) से विशेष सम्बन्ध

था और यह असुरों का प्रधानदेव था। ऐतिहासिक वरुण या प्रचेता दैत्यदानवों का पूर्वज था, जैसा कि निम्न वंशपरम्परा से सिद्ध होता है—

वरुण—असुरमहत् या यादसांपति,[1] प्रचेता।
|
भृगु
|
शुक्र
|
त्वष्टा | वरुत्री | शण्ड | मर्क

त्वष्टा
|
वृत्रासुर = अहिदानव

अतः असुरों द्वारा वरुण को असुर महान् के रूप में पूजना उचित और ऐतिहासिक तथ्य था। नैरुक्तिकवृत्तों के साथ ऐतिहासिकवृत्तों का स्मरण करना भारतीय परम्परा रही है, ऋग्वेद से बृहद्देवता और सायणाचार्य तक ने इस परम्परा का पालन किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती और पाश्चात्य अन्वेषक इस सत्य-भारतीयपरम्परा को नहीं मानते, यह उनकी महती भूल है।

वरुण अदिति का ज्येष्ठपुत्र और सूर्य (विवस्वान्) इन्द्र आदि का पूर्वज भ्राता था। वह देवों के लिए भी पूज्य और पूर्वदेव था, अतः मन्त्रादि में वरुण की निन्दा नहीं है, जबकि असुर वृत्रासुर वरुण की पाँचवी पीढ़ी में हुआ, वृत्र का इन्द्र से घोर युद्ध हुआ, वह देवों का शत्रु था अतः मंत्रों में उसकी घोर निन्दा है।

प्रतीत होता है कि प्रचेता वरुण का ऐतिहासिक वृतान्त महाभारतयुग में ही अस्पष्ट और धुँधला हो गया था।

वरुण की प्रजा गंधर्व और अप्सरा समुद्रीयद्वीपों में उपनिविष्ट हो गई थीं, ये जलक्रीड़ा में निपुण थी। वरुण से लेकर बलि तक असुरों का साम्राज्य समुद्रीयदेशों अर्थात् पातालों में रहा, इसलिये वरुण को यांदसाम्पति, समुद्रवासी और पाश्चात्यदेशों (पश्चिमीदिशा) का अधिपति कहते है।

मंत्रों में इतिहास और गाथा का मिश्रण है ऐसा प्राचीन नैरुक्तों को भी मानना पड़ा। निरुक्त में वरुण शब्द 'वृणोतीति सतः' कहकर √ वृ धातु से निष्पन्न माना है। निम्न मंत्र में वरुण वायु के मेघरूप को कहा गया है—

---

1. यादसाम्पति वरुण के ही वंशज गन्धर्व अप्सरायें थी, विशेष द्रष्टव्य भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, पृ०232।

नीचीनवारं वरुणः कबन्धं प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् ।

(ऋ० 5।85।3)

'अ ोगामी मुखवाले वरुण (वायु) ने मेघ को सृजा, जिससे द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष उत्पन्न हुये ।

रुद्र—वर्षणयोग्य मेघ जब गर्जन करता है, और बिजली की कड़क के साथ वर्षा होती है, तो उस वायु या मेघ की संज्ञा रुद्र होती है । अग्नि की भी रुद्रसंज्ञा वेद में प्रसिद्ध है यह पूर्वपृष्ठों पर लिखा जा चुका है । निरुक्त में रुद्रपद का निर्वचन इस प्रकार है—'रुद्रो रौतीति सतः, रोरुयमाणो द्रवतीति वा, रोदयतेर्वा नि० (1-1)

रौति या शब्द (रोड़ा) करता है, रोता हुआ (शब्दायमान) वहता है या वर्षता हैं, गर्जन या ताड़न से रुलाया जाता है ।

काठकसंहिता (25।1) में लिखा है—'यदरुदत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम'—जो रोया वह रुद्र (मेघ) का रुद्रत्व है ।' वृहद्देवता में और अधिक स्पष्टतः 'कहा है—

अरोदीदन्तरिक्षे यद् विद्युद्वृष्टिं ददन्नृणाम् ।
चतुर्भिऋर्षिभिस्तेन रुद्र इत्यभिसंस्तुतः ।। (बृद्दे० 2।34)

'अन्तरिक्ष में गर्जना करते हुये मनुष्यों के लिए बिजलीसहित वर्षा की अतः चार ऋषियों (कण्व, कुत्स, गृत्समद और वसिष्ठ) ने रुद्र के नाम से मेघ की स्तुति की है ।'

ऐतिहासिक रुद्र (महादेव) जो प्रजापति प्रचेता के पुत्र थे, अर्जुन के समान बाणों के वर्षक थे, ऋग्वेद और यजुर्वेद (शतरुद्रीयप्रकरण) में रुद्र का ऐतिहासिकरूप स्पष्ट है, इतिहासपुराण उसका उपबृंहण करते हैं । यास्क द्वारा उद्धृत मन्त्र में रुद्र का ऐतिहासिकरूप स्पष्टत आभासित होता है—

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने ।
अषाढ़ाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता श्रृणोतु नः ।।

(ऋ० 7।46।1)

इस मन्त्र को मेघ के ऊपर घटाते हुये भी कोई बुद्धिमान् पिनाकी रुद्र को भूल नहीं सकता ।

इन्द्र—अग्नि और वायु दोनों की संज्ञा इन्द्र थी, यह अन्तरिक्ष का प्रधानदेव माना गया ।

निरुक्त में अनेक प्रकार से 'इन्द्र' का निर्वचन किया है यथा 'इदाँ दृणातीति वा ददातीति वा, दधातीति वा दारयत इति वा, धारयत इतिवा ।' इरा अन्न या जल को कहते है, वह इरा (अन्न या जल) को भेदता है, देता है, धारण करता है, विदीर्ण करता है अतः इसकी इन्द्रसंज्ञा है । इन्दु इन्ध, इदम् इन्दति आदि से भी 'इन्द्र' पद की

निरुक्ति यास्क ने की है। इन्द्र के बलकर्मादि कार्य पहिले बताये जा चुके है। मन्त्रों में इन्द्र का एक प्रमुख कार्य वृत्रवध बहुधा बताया है जलरोधकशक्ति ही वृत्र है, इन्द्र जब वृत्र (मेघ) रूपीवृत्र का वध करते हैं, तब वर्षा होती है, मन्त्रों में ऐतिहासिक इन्द्र और वृत्र का आभास सर्वत्र चलता है। जलरोधक वृत्र और इन्द्र द्वारा जलमोचन का प्रसिद्ध मन्त्र है—

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आप पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वां अप तद्ववार ।।

(ऋ० 1।32।11)

'दस्यु-असुरों की पत्नियाँ अथवा जल अहि (वृत्र) द्वारा रक्षित थीं, उन जलों को वृत्र ने उसी प्रकार रोक रखा था, जिस प्रकार पणि (व्यापारी) गायों को रोक रखता है। आपों का बिल (मुख) बन्द था, इन्द्र ने वृत्र को मार दिया और पानी बरसने लगा।' इस मन्त्र में प्राकृतिक और ऐतिहासिक दोंनों घटनाओं का स्पष्ट वर्णन है। ऐतिहासिक घटनाओं का मन्त्रों में अन्यत्र भी वर्णन है यथा—

'वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा।' (ऋ० 6।89।3)

विष्णु के साथ इन्द्र ने पर्वत पर आश्रित वृत्र को मारा—'अहिं यद् वृत्रमपो वव्रिवांसं हन्नृजीषिन् विष्णुना सचानः। (ऋ० 6।20।2)

'अहन्नहिं पर्वते शिश्रयाणं त्वष्टाऽस्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।'

(ऋ० 1।32।2

ऋग्वेद में जो यह लिखा है 'न त्वं युयुत्से' (ऋ० 10।54।2) और शतपथ ब्राह्मण (11।1।6।9) में—'तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वद् उद्यत इतिहासे त्वत्' लिखा है, इसका भाव है कि यज्ञादि के विनियोग के समय इन मन्त्रों के ऐतिहासिक अर्थ की ग्रहण नहीं करना चाहिए, अन्यथा शतपथब्राह्मण में मन्त्रों के व्याख्यान में जो अनेक उपाख्यान लिखे हैं यदि उन घटनाओं का मन्त्रों से सम्बन्ध नहीं होता तो वे वहाँ क्यों लिखे जाते, अतः महाभारत और इतिहासपुराणों के वाक्य पूर्ण सत्य हैं केवल अल्पश्रुत के लिये ही झूठे हैं (द्रष्टव्य निरुक्तमीमांसा-शिवनारायण शास्त्री पृ० 352।53)

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।। (म० 1।1। 267)
पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः (म० 1।1।86)
पुराणं चेन्न विद्यान्न स स्याद् विचक्षणः । (पुराण)

अनेक मन्त्रों में 'इन्द्र' पद निश्चय ही परमात्मा का प्रतीक या बोधक है, यथा—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।'
रूपं रूपं मघवा बोभवीति ।'
यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः
न त्वा वज्रिन्त्सहस्त्रं सूर्या अनु जातमष्टरोदसी ।
इन्द्रः सूर्यमरोहयद् दिवि ।'
इन्द्रे ह विश्वानि भुवनानियेमिरे ।'

वेदमन्त्रों में इन्द्र का एक प्रधान अर्थ परमात्मा भी है, परन्तु अन्य अर्थों को विस्मृत नहीं किया जा सकता ।

पर्जन्य—माध्यमिक प्रधानदेव इन्द्र का ही एकरूप पर्जन्य है । पर्जन्य शब्द की व्युत्पत्तियाँ निरुक्त और बृहद्देवता के आधार पर पहिले लिखी जा चुकी है । ऋग्वेद के सप्तममण्डल के पर्जन्यसूक्तों के रचयिता वसिष्ठ ऋषि थे । पर्जन्यसम्बन्धी यास्कोद्धृत प्रसिद्ध मन्त्र है—

विवृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं विभाय भुवनं महावधात् ।
उता नागा ईषते वृष्णयावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः ॥

(ऋ० 5।81।2)

'वृक्षों को गिराता है, राक्षसों को मारता है महावध से भुवन को डराता है, वर्षणशील पर्जन्य से निष्पाप भी डरता है और शब्दायमान पर्जन्य पापियों को नष्ट करता है ।

बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, क्षेत्रस्यपति, ऋत, वास्तोष्पति और वाचस्पति—

इन्द्ररूपीमेघ के विभिन्न गुणों एवं अवस्थाओं के आधार पर निरुक्त में 27 और बृहद्देवता में 26 नामों का निर्वचन किया है । इतिहास में बृहस्पति आङ्गिरस देवराज इन्द्र के पुरोहित और गुरु थे । परन्तु वेद में ये ईश्वरीय या आकाशीय शक्ति के विभिन्नरूप हैं, यथा 'बृहस्पति' पद का अर्थ है बृहत् (आकाश या संसार) का पति=रक्षक या पालक मेघ । इसी प्रकार ब्रह्म का अर्थ है उदक (जल)=उसका पति =ब्रह्मणस्पतिः=मेघः । इसी प्रकार क्षेत्रस्य पतिः खेत का पति=मेघ । क्योंकि बिना वर्षा के खेती नहीं हो सकती अतः मेघ क्षेत्रस्यपतिः है । प्रायः यही अर्थ वाष्तोस्पति का है, वासस्थान का रक्षक 'ऋत' या 'ऋतस्य श्लोकः' जल या सृष्टिनियम की संज्ञा है, यह भी ईश्वर का पर्याय मानना चाहिए । यह गृहदेवता की संज्ञा थी ।

अपांनपात्—तनूनपात् शब्द के आधार पर इसकी व्याख्या है आप या जलों का नप्ता (पौत्र) । यास्काचार्य ने ऋग्वेद का निम्न मन्त्र उदधृत किया है, उससे सिद्ध होता है यह मेघस्थ विद्युत् का अभिधान है—

यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्य विप्रास ईडते अध्वरेषु ।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय ॥

(ऋ० 10।30।4)

'जो बिना ईंधन के मध्य में प्रदीप्त होता है, जिस (अग्निरूपविद्युत्) की यज्ञों में स्तुति करते हैं वह अपांनपात् हमें मधुमती अप प्रदान करे, जिससे इन्द्र (रूप अग्नि या यज्ञ) बल के लिए बढ़ता है।

अन्यत्र मन्त्र है—

अपां नपादा ह्युपस्थादुपस्य जिह्मानामूर्ध्वो विद्युतं वसानः।

(ऋ० 2।35।9)

यमः—ऐतिहासिक यम विवस्वान् के पुत्र और मनु के अग्रज थे, मन्त्रार्थ के आधार पर ऐतिहासिक यम का अपलाप नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध वेदाचार्य शौनक ने ऐतिहासिक यम का स्पष्ट ही अस्तित्व स्वीकार किया है—

इह प्रजाः प्रयच्छन्स संगृहीत्वा प्रयाति च।
ऋर्षिविवस्वतः पुत्रः तेनाहैनं यमो यमम्।। (बृहद्० 2।48)

वह संसार को सन्तान प्रदान करते हैं और उनको संग्रह करके अन्य लोक में ले जाते हैं, अतः वैवस्वत यम ऋषि उनको 'विवस्वतपुत्र यम' कहते हैं। यही इस मन्त्र का ऋषि है—

परेयिवासं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थानमनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य।।

(ऋ० 10।14।1)

अग्नि वायु आदि की भी यम संज्ञा है विस्तारभय से अधिक नहीं लिखते, कुछ मध्यमस्थानी देवता द्युलोक के भी देवता हैं।

मित्र—इसको प्रायः आदित्य (सूर्य) का पर्याय माना जाता है, परन्तु इस की वरुण के साथ युग्म देवता (मित्रावरुणा) के रूप में स्तुति की जाति है अतः मध्यमस्थानी देव माना गया है। केवल एक सूक्त (3।59) में इसकी स्वतन्त्र स्तुति की गई है। जल का दाता होने से मेघ का नाम भी आदित्य या मित्र है, क्योंकि अदिति आकाश की संज्ञा भी है, आकाश से उत्पन्न मेघ भी आदित्य (मित्र या वरुण) है। यास्क ने 'मित्र' शब्द का जो निर्वचन किया है, उससे भी मित्र का अर्थ जल सिद्ध होता है—

'मित्रः प्रमीतेस्त्रायते। समिन्वानो द्रवतीति वा। मेदयतेर्वा, (नि० 10।2।21) —"(जल या मेघ) मृत्यु से रक्षा करता है, सिञ्चन करता हुआ बहता है, गीला करता है। इससे सिद्ध है कि मित्र जल की संज्ञा थी। निम्नमन्त्र में मित्र (मेघ) का सम्बन्ध कृष्टि (कृषि) से है—

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार
पृथिवीमुत द्याम।
मित्रः कृष्टिरनिमिषाभिचष्टे
मित्राय हव्यंघृतवज्जुहोतन।। (ऋ० 3।59।1)

"मेघ (मित्र) शब्द करता हुआ जनों को प्रेरित करता है, मित्र ने पृथिवी और आकाश को धारण किया, मित्र कृषि या कृषकों को निरन्तर देखता रहता है और मित्र के लिये घृतयुक्त हवि होमो।"

क — (प्रजापति) - वेद में 'क' का अर्थ जल या प्रजापति है। वे सृष्टि के आदिकाल में हिरण्यगर्भरूप (सूक्ष्मरूप) में स्थित थे। 'क' का अर्थ सुख या कमनीय भी होता है। स्थूलरूप में सर्वप्रथम जलों की उत्पत्ति हुई, अतः उसको हिरण्यगर्भ प्रजापति कहा है (जल ही प्रजा का पालक है)—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मैदेवाय हविषा विधेम ॥

(**ऋ०** 10।121।1)

प्रजापति का अर्थ है प्रजा का पालक। इतिहास में स्वयम्भू, दक्ष, प्रचेता, कश्यप, मनु आदि 21 प्रजापति हुये हैं। प्रकृति में सूर्य, अग्नि, जल, वायु आदि प्रजापति हैं, क्योंकि ये प्रजा (सृष्टि) के पालक या रक्षक हैं।

सरस्वान्—मेघ या समुद्र की संज्ञा है, यह मध्यस्थानी होने से मेघ की संज्ञा है, 'सरस्' जल की संज्ञा है, जलवायुयुक्त मेघ सरकते हैं, इसी आधार पर 'सरमा' मेघस्थ विद्युत् का नाम है।

विश्वकर्मा—इतिहास में भुवन ऋषि का पुत्र विश्वकर्मा भौवन महान् यज्ञशील सम्राट् हुआ जिसने सर्वमेध यज्ञ में प्रजापति कश्यप को ससागरा पृथिवी दान में दे दी थी।

यास्क ने मन्त्रों के उदाहरणों के साथ ऐतिहासिक विश्वकर्मा के अतिरिक्त इसका अर्थ किया है 'विश्वकर्मा सर्वस्यकर्त्ता' (परमात्मा), धाता, विधाता, आदित्य, इन्द्र या प्राण है। निरुक्तचार्यों के मत में यह मेघ या वायु की संज्ञा है—

विश्वस्य जनयन्कर्म विश्वकर्मैषतेन सः।' (बृहद्दे० 2।50)

क्योंकि मेघ जल से सर्वसृष्टि होती है अतः मध्यमस्थानी मेघ की संज्ञा भी विश्वकर्मा है।

तार्क्ष्य—त्वष्टा के समान ही इस शब्द का निर्वचन है, तूर्णमश्नुते (नि० 8।11) शीघ्र व्याप्त हो जाता है, √त्विष या √त्वक्षू से दीप्ति या छीलने के अर्थ में।

एक त्वष्टा आदित्य था, एक उशना काव्य का वंशज था, जिसका पुत्र त्वाष्ट्र वृत्रासुर हुआ। नैरुक्तक व्याख्यान, तार्क्ष्य पद का इस प्रकार है—'तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति तूर्णमर्थं रक्षति अश्नोतेर्वा (नि० 10।3।26)—'विस्तीर्ण अन्तरिक्ष में निवास करता है, शीघ्र अर्थ (अर्थनीय=जल) को वर्षा के लिये प्राप्त (या व्याप्त) करता है या उसकी रक्षा करता है, अतः तार्क्ष्य मेघ की संज्ञा है। अरिष्टनेमि तार्क्ष्य ने 'तार्क्ष्य' नाम से मेघ की स्तुति की है। तार्क्ष्य या त्वष्टा का अर्थ बढ़ई (तक्षा) भी प्रसिद्ध है।

आप्रीदेवों में बढ़ई की ही रथकार के रूप में स्तुति है, क्योंकि यज्ञोपकरणों का निर्माता वही होता था। त्वष्टा और उसके शिष्य ऋभु, विभ्वा और वाज की महान् शिल्पी होने के कारण ही इतनी महिमा थी। निम्न मन्त्र में भी यही भाव है—

तरुतारं रथानाम् ।

अरिष्टनेमिं......तार्क्ष्यमिहा हुवेम (ऋ० 10।178।1)

तार्क्ष्य या अरिष्टनेमि वैनतेय गरुड़ को भी कहते थे। परन्तु यह ऐतिहासिक देव था।

मन्यु—अन्तरिक्षस्थानी मेघ की एक संज्ञा मन्यु थी। यास्क ने दीप्त्यर्थक √मन धातु से इसका निर्वचन किया है, क्रोध और वध भी इस धातु का अर्थ माना है। शौनक ने इस मन्यु शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

ससृजे मासि मास्येनम् अभिमत्य तपोऽग्रजम् । (बृहद्दे २।53)

'इच्छा करते हुये अग्रज तप ने इस (मेघ) का प्रतिमास सृजन किया।'

दधिक्रा:—शौनक ने इस पद का व्याख्यान इस प्रकार किया है—

अपामम्बरगर्भो घम् आदधत्सोऽष्टमासिकम् ।

यत्क्रन्दत्यसकृन्मध्ये दधिक्रास्तेन कथ्यते ॥ (बृहद्दे० 2।56)

(मेघ) आकाश में आठ महीनेपर्यन्त जलों को धारण करते हैं, और अन्तरिक्ष में यदा कदा गर्जना करते हैं अत: इनका नाम दधिक्रा: हुआ। यास्क ने इनको अश्व और देवता भी माना है। मध्यस्थानीय देवगण में दधिक्रा: मेघ है। इसको सूर्य के समान माना है—

'आ दधिक्रा: शवसा पञ्च कृष्टी:

सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान । (ऋ० 4।38।10)

सविता—सबका उत्पादक (सूर्य, वायु, अग्नि या जल) सविता हैं मध्यस्थानीय देवों में सविता का अर्थ जल (मेघ) है और द्युस्थानीयदेवों में सूर्य तथा पृथिवीस्थानों में यह अग्नि है। इसको प्रजापति भी कहते थे। सविता और प्रजापति का सम्बन्ध जनन या उत्पादन से है अत: कोई भी उत्पादक सविता कहा जा सकता है।

निम्न मन्त्र में मेघ या वायु (या आकर्षणशक्ति) का नाम है जो लोकालोक को स्थिर किये हुये है—

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत्। अश्वमिवाधुक्षद्धु निमन्तरिक्षमतूर्त्ते बद्धं सविता समुद्रम् ॥ (ऋ० 10।149।1)

'सविता (वायु) ने नियन्त्रक शक्ति से पृथिवी को निरालम्ब स्थिर किया, सूर्य को दृढ़ किया। मध्यमस्थानी (सूर्य और पृथिवी के) बीच में मेघ को प्रेरित किया वायुबद्ध यह मेघ (समुद्र) वायुबल से ही घूमता है।

त्वष्टा—यह पहिले कहा जा चुका है कि मध्यमस्थानी त्वष्टा देवता मेघ है, इसी को सविता भी कहते हैं, द्युस्थानीय त्वष्टा सूर्य है, निम्नमन्त्र में सविता (उत्पादक) विश्वरूप (अनेकरूप) मेघ या वायु को त्वष्टा-सविता कहा है—

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः
पुरुधा जजान। (ऋ० 3।55।19)

वातः—यह सामान्य वायु की संज्ञा है—

वात आवातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
प्रण आयूंषि तारिषत् (ऋ० 1।186।1)

'हे वात । तुम भेषज (प्राण) शान्तिकारक सुखकारक होकर हमारे हृदयों में आओ और हमारी आयुओं को वढ़ाओ ।'

वेनः—इच्छा या सौन्दर्य के अर्थ में वेन से यह शब्द बना हैं, इसके अनेक अर्थ हैं, एक अर्थ शुक्राचार्य और शुक्र या वीर्य भी है । शुक्रग्रह को भी वेन कहते हैं इसी से अंग्रेजी 'वेनस' (Venus) शब्द निष्पन्न हुआ । मध्यस्थानी देवों में वेन वायु या इन्द्र है—'अपां वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा इतीन्द्र उवै वेनः, (शांखा० ब्रा० 8।5) यह इन्द्र मेघस्थ विद्युत् (कान्ति) अथवा स्वयं वायु है—

प्राणभूतस्तु भूतेषु यद्वेनत्येषु तिष्ठति। (बृहद्दे० 2।52)

"प्राणियों (भूतों) का प्राण (वायु) होने के कारण यह गतिशील वायु 'वेन' है ।

इसके अनन्तर यास्काचार्य ने कुछ साधारण एवं प्रसिद्ध देवों का परिगणन एवं व्याख्यान किया है, यथा असुनीति, ऋत, इन्दु, प्रजापति, अहि, अहिर्बुध्न्य, सुपर्ण और पुरूरवा । इनमें प्रजापति को छोड़कर अन्य किसी को वेदोत्तरसाहित्य में महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ ।

असुनीति—प्राणी के मृत्यु के समय उसके प्राणों को ले जाने के कारण वायु के एकरूप को असुनीति कहा गया है—

यदन्तकाले भूतानाम् एक एव नयत्यसून् (बृहद्दे० 2।54)

ऋत—इसकी पूर्वपृष्ठों पर व्याख्या की जा चुकी है, यह उदक का नाम है ।

इन्दु—यह √इन्धी दीप्तौ या √उन्दी क्लेदने के अर्थ से बना है, यह इन्द्र (वायु) या सोम का नाम है । वेन, असुनीति, ऋत और इन्दु देवता केवल सूक्तभाक् देवता हैं इनको हविः नहीं दी जाती ।

अहि—यह मेघ या विद्युत् का नाम है, इसको वृत्र भी कहा जाता है ।

अहिर्बुध्न्य—यास्क ने लिखा है—'योऽहिः स बुन्ध्यो बुध्नमन्तरिक्षंतन्निवासात्', (नि० 10।44)—'जो अहि है वही अहिर्बुध्न्य है, बुध्न' कहते हैं आकाशतल या अन्तरिक्ष को । उसका निवासी मेघ हुआ। अहिर्बुध्न्य ।

सुपर्ण—इतिहास में कश्यपपुत्र वैनतेय गरुड़ को सुपर्ण या गरुत्मान् कहा जाता है, यद्यपि वेदमन्त्रों में सुपर्ण का यही एकमात्र अर्थ नहीं है। सुपर्ण—सूर्य, अग्नि, वायु, रश्मि आदि का नाम है। यास्क ने लिखा है—'सुपर्णः सुपतनाः (आदित्यरश्मयः) यह सूर्यकिरण आदि का नाम है। निम्न मन्त्र में सुपर्ण सूर्य का नाम है—

वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद् गभीरवेपा असुरः सुनीथः।

(ऋ० 1।35।7)

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु; प्रसिद्ध मन्त्र में गरुत्मान् दिव्य सुपर्ण को अग्नि कहा है। निम्न मन्त्र में सुपर्ण मेघ या वायु का नाम है, परन्तु इसमें भी वैनतेय गरुड़ और विनता माता के आख्यान का स्पष्ट आभास मिलता है—(ऋ० 10।144।4)।

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।

तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेढि स उ रेढि मातरम्॥

इसकी व्याख्या करते हुये यास्क ने लिखा है—ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यनसंयुक्ता' (नि० 10।4।45)—यद्यपि मन्त्र में माध्यमिका वाक् (मेघवाणी) का वर्णन है तथापि मन्त्र पढ़ते ही गरुड़ और विनता का स्मरण हो जाता है।

प्रजापति—माध्यमिक देवगुणों में वायु या मेघ (इन्द्र) को प्रजापालक होने से प्रजापति कहा गया है। मन्त्रों में यह गौण देव है।

पुरूरवा—बहुत शब्दकारी मेघ को ही पूरूरवा कहा गया है, इसकी पत्नी उर्वशी (विद्युत्) है, ऋषियों को आख्यानप्रिय होने के कारण वेदमन्त्रों में इतिहास और गाथा का मिश्रण भी है।

सोम और श्येन—वेद और वैदिकयज्ञों में सोमतत्व और सोमक्रतुओं का अद्वितीय स्थान था। ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवम मण्डल सोम के लिए समर्पित है। सोमक्रतुओं में ही षोडश ऋत्विक् होते थे, इनके एकाह, अहीन और सत्ररूप में अनेकशत भेदविभेद थे। वेद में सोमतत्व क्या था और श्येन का इसके साथ क्या सम्बन्ध था इस विषय की यहाँ संक्षेप में विवेचना करते हैं।

सोम को अमृत माना गया, जिसे पीकर मानव अमृत हो जाता है 'अपाम सोमममृता अभूम' (ऋ० 8.48।3) सोम पहिले दिव्यलोक में था, सर्वप्रथम गन्धर्व विश्वावसु ने इसको वहाँ से चुराया तब देवों को इसका ज्ञान हुआ—'दिवि वै सोम आसीत्...गन्धर्वो विश्वावसुः पर्यमुष्णात्ते देवा विदुः।' (श. ब्रा. 3।2।3।2)।

सोम कौनसा पदार्थ था, यह अब एक विवाद का विषय बन गया है। आयुर्वेदशास्त्र में समस्त बलकारिणी औषधियों की संज्ञा सोम प्रतीत होती है। ऋग्वेद में सोम को मूजवान् पर्वत पर उत्पन्न भक्ष बताया गया है—'सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः (ऋ० 10।34।1)। श्री सत्यव्रत सामाश्रमी के मत से मूजवान् पर्वत कैलाशगिरि

के पश्चिम में स्थित था ।[1] वाजसनेयिसंहिता (3-61) में रुद्रनिवास से परे मूजवान् पर्वत बताया गया है—'एतत्ते रुद्रावसम् तेन परो मूजवतोऽतीहि' सुश्रुतसंहिता (29 26-30) में हिमवान्, सह्यपर्वत, महेन्द्रपर्वत, मलयगिरि, श्रीपर्वत, देवगिरि, देवसह्य, पारियात्र आदि पर सोम का प्रभव बताया गया है और उसके भेद हैं—अंशुमान्, मुञ्जवान्, चन्द्रमा, रजतप्रभ; दूर्वासोम, कनीयान् श्वेताक्ष, कनकप्रभ, प्रतावान्, तालवृन्त, करवीर, अंशवान्, स्वयंप्रभ, महासोम, और गायत्र आदि ।

ऋग्वेद में सोम को एक औषधि माना है—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम् । (ऋ० 10।85-3)

चन्द्रमा को भी सोम कहते हैं, क्योंकि यह औषधियों में सोम का वर्धन करता है । यास्क ने लिखा है 'सोमो रूपविशेषैरोषधिश्चन्द्रमा वा ।—

और मन्त्र उद्धृत किया है—

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः ।

वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ।। (ऋ० 10-85-5

यज्ञों (सोमक्रतुओं) में ऋत्विग्गण ग्रावा से सोम का रस निकालते थे और अग्नि को होम करने के अनन्तर उसका पान करते थे ।

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोमधारया ।

इन्द्राय पातवे सुत ।। (ऋ० 9।1।1)

गोदुग्धादि में मिश्रण करके इसका पान किया जाता था—

'सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः ।' (ऋ० 1।91।18)

वेद में सोम का महात्म्य इतना बढ़ गया कि वह परमात्मा का प्रतीक बन गया । सृष्टिरचना के मूल उपादान दो ही माने गये—'अग्नीषोमात्मकम् जगत् ।' सोम, बुद्धि, द्युलोक, पृथिवी, अग्नि, सूर्य, इन्द्र और विष्णु का जनक कहा गया है—

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।[1]

जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ।।

(ऋ० 9।96।5)

सोम केवल शीतलता या अग्नि का अभाव नहीं है, सोम सृष्टि का मूलतत्व है, जिसके बिना अग्नि या सूर्य प्रज्वलित नहीं हो सकता, जिस प्रकार पानी से बिजली उत्पन्न होती है, उसी प्रकार सोम से सूर्य जलता है ।

सोम आदित्य का भी नाम है, वह आत्मा और परमात्मा की भी संज्ञा थी—'सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ।' (ऋ० 9।96।6)

---

1. ऐतरेय आलोचन पृष्ठ 35 ।
2. सुश्रुतसंहिता (29।2-7)

इस मन्त्र में यह सूर्य की संज्ञा है ।

निम्न मन्त्र में यह आत्मा का अभिधान है—

'सोमं यन्ति मतयो वावशानाः । (ऋ० 9।97।34)

सोम को 'इन्दु' भी कहते थे—

बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः । (ऋ० 9।97।40)

निम्न मन्त्र में सोम को सृष्टि का मूलतत्व बताया गया है—

महत्तत् सोमो महिषश्चकारापां यद् गर्भोऽवृणीत देवान् ।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ।।

(ऋ० 9।97।41)

'महान् सोम ने महान आपों के गर्भ (सृष्टि) धारण कराया । जिससे देव द्युलोकादि उत्पन्न हुये । अग्निरूप पवमान इन्द्र में ओज भरा, और सूर्य में प्रकाश उत्पन्न किया ।'

इसीलिये सोम को अमृत कहा गया है, क्योंकि आप्यायन (वर्धन) से यह जगत् सतत स्थित है—

जनयन् प्रजाः भुवनस्य राजा ।' (ऋ० 9197140)

सोम को 'राजा' या 'सोमराजा' भी कहते थे ।

चन्द्रमा इस सोम का एक प्रतीकात्मक अंशमात्र है ।

श्येन—सोम के साथ श्येन का घनिष्ठसम्बन्ध वेदमन्त्रों में दृष्टिगोचर होता है । आधिदैविक दृष्टि से श्येन (श्येनः शंसनीयं गच्छति नि० 2-24) सूर्य या इन्द्र (अग्नि) का नाम है । आध्यात्मिक दृष्टि ने यह आत्मा (जीवात्मा) का नाम है ।

सामान्यतः श्येन बाज या गरुड़ को भी कहते हैं। इतिहासपुराणों में गरुड़ वैनतेय द्वारा सोमाहरण की कथा प्रसिद्ध है। वहां उल्लिखित हैं कि वैनतेय गरुड़ ने देवलोक से नागों के लिए सोमहरण किया, इसी प्रकार वेदमन्त्रों में बहुधा उल्लेख है कि श्येनपक्षी सोम को लाता है। 'धर्मयुग' नामक प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र[1] में श्रीमारुति चितमपली ने लिखा है 'अमरीकी शोधकर्त्ता आर० गार्डनवासन ने सिद्ध किया है कि सोम 'फ्लाइड अगरिक' (अमानिता मस्कारिया) नाम से जानने वाला कवक है। ⋯⋯यह वनस्पति साइबेरिया और नार्वे से ईशान्य रूस तक के गीले पर्वतशिखरों पर मिलती है तथा ऋग्वेद में श्येनपक्षी का कई स्थानों पर उल्लेख हैं। सोम की खेतों की रक्षा और पर्वतों से सोम चुनकर लाने का अद्भूत काम इन श्येनों से कराया जाता था। अतः प्राचीनभारत (कलिपूर्वकाल) में श्येनपक्षीपालन भी विशाल पैमाने पर किया जाता होगा जिससे ये पक्षिगण पर्वतों से चुनकर विशाल-

---

1. साप्ताहिक धर्मयुग, दिनांक 9-2-75

मात्रा में सोम लाते थे। ऋग्वेद के निम्नमन्त्रों से यह निश्चयपूर्वक आभास मिलता है कि श्येन सूदूरक्षेत्रों से विशालमात्रा में सोम लाते थे—

आदाय श्येनो अभरत् सोमं सहस्रं सवां अयुतं च साकम् ।

(ऋ० 4-26-7)

'श्येन पक्षी सहस्र अयुत (लाखों) सव सोम लाये।'

नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरद् रजांसि ।

(ऋ० 1-32-14)

'श्येन पक्षी 99 नदियों और पर्वतों को पार करते हुए निर्भय होकर आये।

यत्रा चक्रुरमृता गातुमस्मै श्येनो न दीयन्नन्वेतिपाथः ।

(ऋ० 7-63-5)

देवों ने श्येन के लिए मार्ग बनाया वे पक्षी उड़ते हुए मार्ग पार कर दिये।

असमने अध्वनि वृजिने पथि श्येनां इव । (ऋ० 6-46-13)

'असमान और कठोर मार्ग में श्येनों के समान' -

अतः सोमनयन का प्रधानकार्य अतिपुरातनयुग में श्येन पक्षी करते थे।

मध्यमस्थानी देवताओं में ही चन्द्रमा की गणना की गई।

चन्द्रमा के अनन्तर यास्क ने मृत्यु, विश्वानर, धाता और विधाता का वर्णन किया है। मारने के कारण यह 'मृत्यु' नाम है। शतवलाक्षमौद्गल्य के अनुसार मृत को गिराता है इस लिए यह नाम है।

वायु या इन्द्र ही विश्वानर (आपः) है, इसी को नारा कहते है, मन्त्र है—'उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्। (ऋ० 7-73-1) सविता देव विश्वानर विश्वजन्य अमृत ज्योति पर आश्रित हुआ।' यह मेघ ही विश्वानर सविता है।

धाता विधाता भी प्राणधारण वायु या मेघ के विभिन्न रूप है।

माध्यमिक देवों के ये अष्टगण कुछ अधिक महत्वपूर्ण हैं—

(1) मरुतः (2) रुद्राः (3) ऋभवः (4) अङ्गिरस (5) पितरः (6) अथर्वाण (7) भृगवः (8) आप्त्याः।

मरुतः—इतिहास में मरुत इन्द्र के भ्राता और दिति के पुत्र माने गये हैं नैरुक्तिक निर्वचन में मरुतः मध्यस्थानीय देवगणों में प्रथम हैं। ब्राह्मणग्रन्थों और इतिहासपुराणों में इनके 49 गण माने गये हैं—'सप्त सप्त हि मारुता गणाः।' (श० ब्रा० 9-3-1-25) ये मरुतः विद्युन्मय वायुओं (मेघों) की संज्ञा है जो वर्षिष्ठ अन्न या जल से, सुमाया जगत् का कल्याण करते हैं—

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैं रथैभिर्यात ऋष्टिमद्भि रश्वपर्णैः ।
आ वर्षिष्ठया न इषा वयो नपप्तता सुमायाः । (ऋ० 1-8-1)

इन मारुतों के दीप्तिमान रथ और ऋष्टि (बर्छी भाले) है । यहाँ मरुतों का मानवीकृतरूप स्पष्ट है वस्तुतः मरुतगण देवराज इन्द्र के सैनिक थे, जो ऐतिहासिक पुरुष भी थे । मरुतों को निम्न मन्त्र में अंगिरा के पुत्र कहा है—

त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानाभवः शिवः सखाः ।
तव व्रते कवयो विद्मानपसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ।।

(ऋ० 1-31-1)

ये अंगिरापुत्र मरुतः कवि, विद्वान् और दीप्तिमान् थे । प्राकृतिक मरुत (वायुओं) पर भी उपर्युक्त विशेषण घटते हैं । प्राकृतिक मरुत आंधी तूफान वर्षा और विजली के देवता हैं । ऐतिहासिक मरुतः युद्ध के देवता या इन्द्र के सैनिक थे । यूरोप में आजतक इनकी मार्स (Mars-मंगल) युद्धदेवता के रूप में पूजा की जाती है । यूरोप के देशों में इसके विभिन्न नाम प्रचलित थे ।

ऐतिहासिक अग्नि या अंगिरा ऋषि देवों (इन्द्रादि) के पुरोहित थे । देवगुरु वृहस्पति आंगिरस प्रसिद्ध देवपुरोहित थे । अग्नि का एक नाम रुद्र था । मरुतो के पिता रुद्र या रुद्राः कहे गये हैं ।

रुद्रा—ये भी वायुविशेषों का अभिधान है जो अन्तरिक्षस्थानीय है । गर्जना (रव या शब्द) करने के कारण वर्षा के पूर्व मेघ रुद्रजंज्ञा धारण करते हैं ।'रुद्राः और मरुतः वायु (मेघ) के पर्यायवाची होने से समानार्थक है । रुद्रों के पुत्र होने से मरुतों को भी रुद्राः कहा जाता है । रुद्र भी वर्षा, आँधी और तूफान के देवता हैं । इनकी संख्या इतिहास में 11 हैं, परन्तु तैत्तरीयसंहिता में 33 बताई है ।

पृथिवी पर रुद्र अग्नि का नाम है, अन्तरिक्ष में यह विद्युन्मय मेघ है । इतिहास में यह पशुपति महादेव का नाम है जो रुद्रों के अधिपति है । अतः रुद्र और मरुत ऐतिहासिक देव भी थे । मन्त्रों में मुख्यतः ये प्राकृतिक देव हैं परन्तु वहाँ भी उनका मानवीकरण या ऐतिहासिकरूप स्पष्ट है ।

मध्यमस्थानी देवगण के शेष छः गण तो निश्चयपूर्वक ऐतिहासिक ऋषि थे— पितरः, ऋभवः, अङ्गिरसः, अथर्वाणः भृगव, ओर आप्त्याः ।

ऋभवः—प्रकृति में यह विद्युतरङ्ग या सूर्यरश्मि का नाम है—ऋभव उरु भान्तीति वा, ऋतेन भान्तीति वा । ऋतेन भवन्तीति वा',

(नि० 11-2-15)

जो बहुत चमकते हैं, मेघोदक से चमकते या होते हैं ।

इतिहास में ऋभगण अङ्गिरावंशीय सुधन्वा के पुत्र थे जो अपने शिलपनैपुण्य

(Technology) के बल पर देवत्व को प्राप्त हुये—

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः ।
सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः ।।

(ऋ० 1-104-7)

मरणधर्मा (मनुष्य) होते हुए शिल्पकला के कारण शीघ्र ही वे सूरचक्षु विद्वान् ऋभुगण अपने कर्मों द्वारा अमृतत्व (देवत्व) को प्राप्त हुये उनके कुछ विशिष्ट कार्यों का उल्लेख निम्न मन्त्रों में है—

येन हरी मनसा निरतक्षत तेन अमृत्वमृभवः समानश ।

(ऋ० 3-60-3)

उन्होंने इन्द्र के लिए दो हरी घोड़ो का निर्माण किया, जिससे उन्हें देवत्व प्राप्त हुआ ।'

चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम् ।
अकर्त चतुरः पुनः ।'

(ऋ० 1-20-6)

त्वष्टा के लिए उन्होंने एक चमस के चार चमच बनाये ।'

ऋग्वेद निरुक्त और बृहद्देवता में इनका संक्षिप्त इतिहास मिलता है—

ऋभुर्विम्वा वाज इन्द्रो नो अच्छेमं यज्ञं रत्नधेयोपयात ।

(ऋ० 4-34-1)

सुधन्वा आङ्गिरस के तीन पुत्र थे—ऋभुविभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः ।' (नि० 11-2-16) महाभारत उद्योगपर्व और छान्दोग्योपनिषद् से ज्ञात होता है कि सुधन्वा आङ्गिरस इन्द्र और विरोचन के सतीर्थ्य (सहपाठी) थे, अतः ऋभुभ्राता इनसे एक पीढ़ी अनन्तर हुए ।

बृहद्देवता (अध्याय 3183-91) में ऋभुओं का कुछ विस्तृत इतिहास दिया गया है—

सुधन्वन आङ्गिरसस्यासन्पुत्रास्त्रयः पुरा ।
ऋभुर्विभ्वाच वाजश्च शिष्यास्त्वष्टुश्चतेऽभवन् ।
शिक्षायामास तांस्त्वष्टा त्वाष्ट्रं यत्कर्म किंचन ।
परिनिष्ठतकर्माणो विश्वे देवा उपाह्वयन् ।
विश्वेषां ते ततश्चक्रुर्वाहनान्यायुधानि तु ।
धेनुं सबर्दुघां चक्रुरमृतं सबरुच्यते ।।
बृहस्पतेरथाश्विभ्यां रथं दिव्यं त्रिबन्धुरम् ।
इन्द्राय च हरी देवप्रहितेनाग्निनापि यत् ।।
एकं चमसमित्युक्ते ज्येष्ठ आहेत्यथो दिवि ।
उक्त्वा ततक्षुश्चमसान् यथोक्तं तेन हर्षिताः ।।

त्वष्टा च सविता चैव देवदेवः प्रजापतिः ।
सर्वान् समामन्त्र्य अमृतत्वं ददुश्च ते ।।
तृतीयसवने तेषां तैस्तु भागः प्रकल्पितः ।।

पुराकाल में सुधन्वा आङ्गिरस के तीन पुत्र हुये—ऋभु, विभ्वा और वाज। वे तीनों त्वष्टा के शिष्य हो गये। त्वष्टा ने उनको उन समस्त शिल्पों और विज्ञानों (विशेषतः यान्त्रिककर्म) की शिक्षा दी जिसमें वे पारंगत थे। इन विज्ञानों के विशेषज्ञ देवों ने ऋभुओं को विज्ञानप्रदर्शन को ललकारा। तब ऋभुओं नेविश्वेदेवों के लिए वाहनों और आयुधों का निर्माण किया। उन्होंने सबर्दुघा गाय का निर्माण किया, अमृत को ही बृहस्पति का 'सबर्' कहते हैं। ऋभुओं ने अश्विनीकुमारों के लिए त्रिबन्धुर रथ और इन्द्र के लिए दो अश्वों का निर्माण किया। देव प्रेषित अग्नि के माध्यम से भी अपने विज्ञान का प्रदर्शन किया। जब अग्नि ने कहा कि एक चमस को चार कर दो तो इन्होंने 'ज्येष्ठ आह' ऋचा के अनुसार स्वर्ग में एक चमस के चार चमस कर दिये। त्वष्टा (गुरु) सविता और देवदेव प्रजापति ने सब देवों को बुलाकर ऋभुओं को देवत्व या अमरत्व प्रदान किया और सोमक्रतु के तृतीयसवन में देवों के साथ इनको भी यज्ञभाग मिलने लगा।'

प्राचीनभारत में श्रेष्ठपुरुषों को देवत्व प्रदान करने की परिपाटी अनन्तकाल से चली आ रही थी, जो आज भी किसी न किसी रूप में चल रही हैं।

आङ्गिरस—ऐतिहासिक आङ्गिरस पृथुवैन्य के समय हुए थे ओर प्रचेता के पुत्र और दक्ष के भ्राता थे, इन्द्रादि के समय अङ्गिरा का अस्तित्व ज्ञात नही होता। इन्द्र के समकालीन बृहस्पति, सुधन्वा आदि अङ्गिरावंशज विद्यमान थे। अग्नि या अङ्गारों को भी अङ्गिरा या आङ्गिरस कहते थे। निम्नमन्त्र में प्राकृतिक और ऐतिहासिक अग्नि (अङ्गिरा) और आङ्गिरसः दोनों का ही वर्णन हैं।

विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः ।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ।।

(ऋ० 10।62।5)

अङ्गिरा, भृगु और अग्नि तीनों भ्राता ऋषि थे और समकालीन तो थे ही।

प्राचीनभारत में वंशप्रवर्तक, पूर्वज या महापुरुष को देवता मानने की प्रवृत्ति थी। इसी कारण अग्नितुल्य या अग्नि के आविष्कारक अङ्गिरा ऋषि मध्यमस्थानी देव माने गये। अङ्गिरा के वंशज अङ्गिरसऋषि देवों के साथी थे। अतः वे भी देवता माने जाते थे।

भृगव और अथर्वाण.—जो परम्परा अङ्गिरा की थी, उसी के अनुरूप दैत्यों के ब्राह्मण पुरोहित भार्गव और आथर्वण ऋषिगण की मध्यमस्थानीय देगगण माने जाते थे।

पितरः—अङ्गिरस, भृगव और अथर्वण एवं अन्य प्रवर (गोत्रप्रवर्तक) वसिष्ठ आदि ऋषि एवं यम के वंशज पितर भी देवता माने गये—

अङ्गिरसो न पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवाः सौम्यासः

(ऋ० 1011ड19)

यास्क ने लिखा है—'माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः। पितर इत्याख्यानम् (नि० 11-2-19)। 'ये अङ्गिरस आदि माध्यमिक देवगण हैं परन्तु इतिहासपुराण (आख्यान) में ये पितर (मनुष्यों के पूर्वज) हैं।'

पुनः यास्क ने लिखा है –'अथाप्यृषयः स्तूयन्ते। (नि० 11-20)

वेद मन्त्रों में ऋषियों की स्तुति भी की गई है।'

आप्त्याः—इसकी नैरुक्त व्युत्पत्ति 'आप्लृ' (व्याप्तौ) से हुई है, जैसा कि यास्क ने लिखा—'आप्त्या आप्नोतेः।' नि० 11-20)

मूल में 'आप्त्याः' भी पितर या ऋषिगण का नाम है, इनका मूलप्रवर्तक 'आप्त' ऋषि था। ये अत्यन्त प्राचीन ऋषि थे, 'आप्त' के सम्भवतः तीन पुत्र थे जिनमें 'त्रित' प्रधान थे आप्त्यों की स्तुति निम्नमन्त्र में कीं गई है—

स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतमाप्त्यमाप्त्यानाम्।
आ दर्षते शवसा सप्त सानून् प्रसाक्षते प्रतिमानानिभूरि।

(ऋ० 10-120-6)

'जो स्तोतव्य बहुरूप, ईश्वरतम, आप्तव्यों में आप्तव्य आप्त अपने बल से सप्त दानवों आर उनके समान बहुतों का विदारण करते हैं।'

यहां आप्त्य मध्यमस्थानीय मेघगण का ही रूपविशेष है जो आपों (जलों) से पूर्ण उपयुक्त विशेषताओं से युक्त हैं।

ऋग्वेद में त्रित आप्त्य का ऐतिहासिक उल्लेख इस प्रकार है—

त्रितस्तद्वेदाप्त्यः स जामित्वाय रेभति वित्तं मे अस्यरोदसी
त्रितः कूपेऽवहितो देवान्हवत ऊतये।
तच्छुश्राव बृहस्पतिः षुण्वन्नंहूरणादुरु वित्तम्।

(ऋ०1-105-9-17)

'त्रित आप्त्य ऋषि ने बन्धुत्व (या भक्ति) के लिए पुकारा पृथ्वी और आकाश को। कूप में पतित त्रित ने अपनी रक्षा के लिए देवों को पुकारा। उसको बृहस्पति ने सुना।' बृहद्देवता (3-132-136) में कुछ अधिक विस्तार से यह इतिहास लिखा है—

त्रितं गास्त्वनुगच्छन्तं क्रूराः सालावृकीसुताः।
कूपे प्रक्षिप्य गास्सर्वास्तत एवोपजह्निरे।
स तत्र सुषुवे सोमं मन्त्रविन्मन्त्रवित्तमः
देवांश्चावाहयत्सर्वांस्तच्छुश्राव बृहस्पतिः॥

सालावृकी के पुत्र दैत्यों ने गायों के अनुचर त्रित को कुयें में गिरा दिया और सब गायों को ले गये। मन्त्रविदों में श्रेष्ठ मन्त्रविद् त्रित ऋषि ने वहां (कूप में) सोमसवन किया और सब देवों का आह्वान किया। बृहस्पति ने उसके आह्वान को सुना।'

प्राकृतिक देव आप्त्य मध्यमस्थानीय आप या पानी के देवता मेघ हैं जो वर्षा करते है। अन्तरिक्षस्थ सोम (रस = जल) का आप्त्य से विशेष सम्बन्ध भी मन्त्रों में प्रकट है।

पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता में अनेकश थ्रित की चर्चा है, आप्त्य को वहां 'आथ्व्य' कहा है जो भाषाविकार के कारण है। त्रित का ऋग्वेद (1-158-5) में उल्लिखित त्रैतन दास से कोई सम्बन्ध नहीं, जिसने दीर्घतमा मामतेय के वध का प्रयत्न किया था परन्तु ऋषि ने स्वयं ही त्रैतन को मार दिया।

महाभारत (शान्तिपर्व 339 अ०) में इन्द्रसखा उपरिचरवसु के यज्ञ में एक द्वित और त्रित ऋषि सदस्य थे—

बृहस्पतिरुपाध्यायस्तत्र होता बभूव ह।
प्रजापतिसुताश्चात्र सदस्याश्चाभवंस्त्रयः।
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः।

(श्लोक 5,6)

यह वसु राजा कृतयुग में इन्द्र के समकालीन था, न कि शन्तनुपिता प्रतीप का समकालीन उपरिचरवसु (व्यास जी का नाना), अतः त्रित आदि आप्त्य ऋषिगण भी उसी समय हुए।

स्त्रीदेवता

निरुक्त ((11-22-50) में 21 स्त्री देवताओं का व्याख्यान है।

वे हैं—(1) अदिति (2) सरमा (3) सरस्वती (4) वाक् (5) अनुमति, (6) राका (7) सिनीवाली (8) कुहु (9) यमी (10) उर्वशी (11) पृथिवी (12) इन्द्राणी (13) गौरी (14) गौ (15) धेनु (16) संध्या (17) पथ्या (18) स्वस्ति (19) उषा (20) इला और (21) रोदसी। अनेक वेदशाखाओं में सीता (हल का फाल) की देवता के रूप में स्तुति है, अतः बृहद्देवता (1-129) में सीता और लाक्षा—इन दो देवताओं का और परिगणन है।

अदिति—उपर्युक्त स्त्रीदेवता वेद या निरुक्त में प्रायेण प्राकृतिक शक्तियों के रूप में ही अभिप्रेत हैं, परन्तु इनमें से अधिकांश देवता ऐतिहासिकरूप भी लिये हुये हैं, यथा इतिहास में अदिति प्रजापति कश्यप की पत्नी और विवस्वान्, विष्णु, इन्द्र आदि द्वादश आदि आदित्यदेवों की माता थी, परन्तु मन्त्रों में अदिति का

ऐतिहासिकरूप कम और प्राकृतिकरूप अधिक है, परन्तु जहाँ प्राकृतिकरूप है वहाँ भी ऐतिहासिक छाया विद्यमान है—

भूर्जज्ञे उत्तानपादो भुव आशा अजायन्त ,
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाददितिः परि ।। (ऋ० 10-72-4)

'उत्तानपाद हिरण्यगर्भ (ब्रह्माण्ड) से पृथ्वी उत्पन्न हुई, भुव (अन्तरिक्ष) से दिशायें उत्पन्न हुईं। दक्ष (सूर्य) अदिति (प्रकृति या पृथिवी) से उत्पन्न हुआ और अदिति (उषा) दक्ष (सूर्य) से उत्पन्न हुई।' जब ऋषि ने यह मंत्र बनाया तब उसके ध्यान में ऐतिहासिक दक्ष और अदिति अवश्य थे। जब यास्क ने 'अदिति दाक्षायणी' (नि० 11-3-16) लिखा तो उसका अभिप्रायः ऐतिहासिक पक्ष की ओर ही था। अन्यत्र भी यास्क ने लिखा है—

'अदितिरदीना देवमाता वा' (नि० 4-32)। अदिति को दाक्षायणी और देवमाता कहने का उपबृंहण इतिहासपुराण से ही होता है इसीलिए कहा है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृहंयेत् ।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति

अतः यास्क जैसा निरुक्तसम्प्रदाय का घोर पक्षपाती भी इतिहासपक्ष को भूला नहीं। सर्वप्रथम यास्क ने निरुक्तपक्ष से अदिति को सूर्यपुत्री उषा बताया, पुनः दक्षपुत्री दाक्षायणी कहा, जो ऐतिहासिक पक्ष है। अग्नि को भी अदिति कहा जाता है—'अग्निरपि अदितिरुच्यते। (नि० 11-23) अदिति अखण्डनीया प्रकृति का नाम भी है, जैसा कि निम्नमन्त्रों का भावार्थ है—

अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।।
(ऋ० 10-62-4)

देवानां युगे प्रथमे असतः सदजायत ।
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव ।। (ऋ० 10-62-4)

यहाँ पर अदिति और दक्ष सांख्यदर्शन के प्रकृति और विकार हैं। इनका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रधान (दक्ष) को प्रकृति (अदिति) से पृथक् नहीं किया जा सकता, इसीलिये मन्त्रों में कहा गया है कि दअ से अदिति और अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ।

यास्क ने लिखा 'आदित्यो दक्ष इत्याहुः' जब दक्ष आदित्य है तब अग्नि अदिति है। मध्यमस्थानीय देवगण में अदिति वैद्युताग्नि है।

सरमा—यह यिद्यत् या मध्यमा वाक् (मेघध्वनि या विद्युद्ध्वनि) है – 'वाग् वै सरमा' (मै० सं० 4-6-4)
सरणशील होने से बिद्युद्ध्वनि सरमा कही जाती है।

देवशुनी सरमा और शुनी दानों का अर्थ है 'गतिवाली' अतः सरमा या शुनी का अर्थ सर्वत्र 'कुतिया हो यह आवश्यक नहीं है, दूत या दूती भी गतिवती होती है अता देवशुनी का अर्थ हुआ देवदूती। असुरपणिसरमा-संवाद (ऋ० 10-108) में सरमा और असुर पणियों का यहाँ ऐतिहासिकरूप प्रकट है, उस संवाद की अन्यथा व्याख्या बुद्धिहीनता का परिचायक होगी। आचार्य शौनक ने बृहद्देवता (8-24-26) में विस्तार से इस इतिहास को लिखा है।

सरस्वती—यह नदीरूप और वाग्रूप देवता के रूप में मन्त्रों में बहुधा स्तुत है, इसका व्याख्यान पहिले किया जा चुका है निम्नमन्त्र में यह मध्यमस्थाना मेघध्वनि, जो जलवती होने से सरस्वती कही जाती है। सरस् जल की संज्ञा है। इसकी वाग्देवता के रूप में उत्तरकालीन साहित्य में महती प्रसिद्धि है।

सरस्वतीनदी की भी वेदमन्त्रों में महिमा प्रख्यात है। बुद्धि की देवीरूप में भी इसकी प्रसिद्धि है—

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः।

(ऋ० 1-3-10)

धियोविश्वा विराजति। (ऋ० 1-3-12), उक्त मन्त्रों में धी बुद्धि या प्रज्ञा का नाम है।

वाक्—इस वाक् का एकरूप वेद में सरस्वतीदेवी के रूपों में प्रतिष्ठित था। वाक् यह वाणी का व्यापक नाम है। वाक् देवों—द्योतनशील या गतिशील (√दिवु द्युति, गति आदि अनेक अर्थों में है) पदार्थों से उत्पन्न होती है—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाःपशवो वदन्ति।

(ऋ० 8-100-11)

वाक् के अनेक पर्याय वेद में है। बहुधा उसकी उपमा धेनु (गाय) से दी है जो दुग्धरस से प्रसन्न करती है, वाग्धेनु के चार पाद (स्तन) हैं—'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि।' (ऋ० 1-154-45) इस का व्याख्यान काठकसंहिता (14-5) में इस प्रकार है—

'सा वाग् दृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि पशुषु तुरीयम्। या दिवि सा बृहति सा स्तनयित्नौ। या अन्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये। या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे।'' ''यह वाक् उत्पन्न होते ही चार भागों में विभक्त हुई। तीन चौथाई लोकों और पशुओं में एक चौथाई। जो द्युलोक में वही बृहत्साम और मेघ में है। जो अन्तरिक्ष में है वही वाक् वायु और वामदेव्य साम में, जो पृथिवी में है वही अग्नि और रथन्तर साम में है।' शौनक ने लिखा है—

मध्ये सत्यदिति वाक् च भूत्वा चैषा सरस्वती।

(बृहद्देवता 2-76)

'अन्तरिक्ष में यह अदिति और वाग्रूप यह लोक में सरस्वती है।'

सूर्यलोक में इस वाक् का नाम सूर्या, गौरी ससर्परी है—

तस्मै ब्राह्मी सौरीं वा नाम्ना वाचं ससर्परीम् ।

(बृहद्० 4-113)

शौनक के अनुसार यमी इन्द्राणी, सिनीवाली, राका, अनुमति कुहू आदि मध्यमा वाक् के ही नाम हैं। परन्तु यास्क ने इनका अन्यथा व्याख्यान किया है जिसका साराँश यह है—

अनुमती और राका – नैरुक्तों के मत में ये मध्यमस्थाना देवपत्नियाँ हैं। याज्ञिकों के मत में पूर्वपौर्णमासी अनुमति है और उत्तरापौर्णमासी (द्वितीयदिन) राका है।

सिनीवाली और कुहू – नैरुक्तों के मत में ये मध्यमस्थाना देवपत्नी (वाक् या विद्युत्) है, परन्तु याज्ञिकों के मत में पूर्वामावस्था सिनीवाली और उत्तरामावस्या कुहू है।

इतिहास में अनुमति, राका सिनीवाली और कुहू नाम से प्रसिद्ध देवताओं की स्त्रियाँ भी हुई हैं।

यमी—नैरुक्तपक्ष में यमी रात्रि का नाम है, इतिहास में यह विवस्वान् (सूर्य) की पुत्री और वैवस्वत यम की स्वसा है। इसी के नाम से यमुना नदी प्रसिद्ध हुई। यमयम्युपाख्यान (ऋ०10-10) में इसका ऐतिहासिकरूप ही अधिक सुसंगत है।

उर्वशी—जो अर्थ "पुरूरवा' का है वही अर्थ 'उर्वशी' पद का है। पुरूरवा का अर्थ है बहुत शब्द वाला (मेघ) उरु+वशी (अशी) का भी यही अर्थ है, बहुत शब्द वाली (विद्युत्)। ऋग्वेद (10-95-10) में स्पष्ट ही विद्युत् को उर्वशी कहा है—

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि ।
जनिष्टो अपो नर्यः सुजाता प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः ॥

उर्वशी का एक व्याख्यान यास्क ने यह भी किया है—'उर्वभ्यश्नुते' जो बहुत व्यापक है या बहुत खाती है—वह विद्युत्-उर्वशी हुई।

उर्वशी और पुरूरवा का ऐतिहासिकपक्ष भी स्पष्ट और विख्यात है। उर्वशी अप्सरा गन्धर्वलोकवासिनी थी और पुरूरवा इला और बुध के पुत्र थे। ऋग्वेद (10-95) सूक्त में इनका इतिहास संकेतित है अन्यत्र ऋग्वेद (7-33-11) में और्वश वसिष्ठ का उल्लेख है जो मैत्रावरुण और उर्वशी के पुत्र थे—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः ।"

अतः मन्त्रों में नैरुक्त और ऐतिहासिक दोनोंरूप विद्यमान हैं।

इसके आगे निरुक्त पृथ्वी (पृथु होने से ऐसा नाम धारण करतों है) देवता का उल्लेख है। इन्द्राणी इन्द्र की पत्नी या विद्युत्शक्ति है। गौरी एक विशिष्ट मध्यमस्थाना देवता है। यह भी शुभ्रवर्णा रोचमाना विद्युत् का नाम है।

गो अध्न्या धेनु—ये तीनों पर्यायवाची पद हैं। पृथ्वीलोक में यह गाय पशु है, या पृथिवी है: अन्तरिक्ष में यह वाक् है।

पथ्या और स्वस्ति – पथिन् से पथ्या पद बना है और स्वस्ति शुभाकांक्षा का नाम है। मार्ग में शुभाशीः ही स्वस्ति और पथ्या देवता है।

उषा—यह बहुधा सूर्य की पत्नी कही जाती है जो प्रातःकाल की लालिमा है। यह ज्ञान की देवी के रूप में बहुधा स्तुत हैं। मध्यमस्थानीयदेवतारूप में यह विद्युत् है।

इडा यह मध्यमस्थाना विद्युत्जलवृष्टि है जिससे अन्न उत्पन्न होता है। इतिहास में इला बुध की पत्नी थी।

रोदसी—यास्क ने लिखा है—'रोदसी रुद्रस्य पत्नी' रूद्र अर्थात् मेघ की पत्नी विद्युत्।

द्युस्थानीय देंवता

द्युस्थानीय देवों का यह क्रम यास्क ने निरुक्त (द्वादश अध्याय में रखा है—(1) अश्विनौ (2) उषाः (3) सूर्या (4) वृषाकपायी (5) सरण्यूः (6) त्वष्टा (7) सविता (8) भग (9) पूषा (11) विंष्णु (12) विश्वानर (13) वरुण (14) केशी (15) केशिनः (16) वृषाकपि (17) यम (18) अज एकपात् (19) पृथिवी (20) समुद्र (21) दध्यङ् (22) अथर्वा (23) मनु (24) आदित्याः (25) सप्तऋषयः (26) देवा; (27) विश्वेदेवा (28) साध्याः (29) वसवः (30) वाजिनः और (31) देवपत्नयः।

द्यु या द्युलोक (दिव्यलोक) सूर्य को ही कहते हैं। सूर्य के विभिन्नरूप या अवस्थायें एवं सूर्य से सम्बन्धित दिव्यवस्तुयें ही द्युस्थानीय देवता हैं, यह कथन आगे के विवरण से स्पष्ट होगा।

अश्विनौ—इनका नाम वेद में ही नासत्यौ या दस्रौ भी प्रसिद्ध है। इतिहास में दो अश्विनीकुमार, सूर्य के पुत्र और देवों के वैद्य हैं; सरण्यू इनकी माता का नाम था। परन्तु मन्त्रों में अश्वियों का केवल ऐतिहासिकरूप ही नहीं हैं, ऐतिहासिकरूप के साथ अन्य अनेक पक्ष हैं। यास्काचार्य ने निरुक्त में अनेक प्राचीनमत दिये हैं, इनमें बतलाया गया है कि अश्विनौ कौन हैं—

तत्कावश्विनौ ?
द्यावापृथिव्यावित्येके,
अहोरात्रावित्येके,

सूर्यचन्द्रमसावित्येके,
राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः (निरुक्त 12-1-1) ।

'ये अश्विनौ कौन है, एक मत में द्यावापृथिवी अश्विनौ है। एक मत से अहोरात्र (दिनरात) अश्विनौ हैं, एक मत में सूर्य और चन्द्रमा अश्विनौ हैं। इतिहासपक्ष में अश्वी दो पुण्यात्मा राजा (या राजकुमार) हैं।" अतः यास्क के समय नैरुक्तों को अश्विद्वय का स्वरूप अस्पष्ट सा था। नासत्य के विषय में यास्क के और्णनाभ का मत दिया है—'नासत्यौ चाश्विनौ। सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णनाभः सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रयणः (नि० 6-3-13) नासत्य अश्विनौ हैं। सत्य ही नासत्य (न+असत्य) हैं, यह ओर्णनाभ का मत है, सत्य के प्रणेता नासत्य है, यह आग्रयण का मत है।

द्यावापृथिवी का सूर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्य के आसपास का लोक ही द्यावा है और पृथिवी भूमि या किसी भी लोक (ग्रहादि) का नाम हो सकता है। यह सवसे प्रमुख और प्राचीनतम मत था, जैसा कि शतपथब्राह्मण में अनेकत्र उल्लिखित है—

तौ यौ प्रत्यक्षं दैवतमश्विनाविमे एव ते द्यावापृथिव्यौ।
(श० ब्रा० 7-1-5-16)

इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ। इमे हीदं सर्वमाश्नुवाताम्।
(श० ब्रा० 4-1-5-16)

ये द्यावा और पृथिवी प्रत्यक्ष देवता हैं, क्योंकि ये समस्त संसार को व्याप्त किये हुये हैं ज्योति से और पृथिवी अन्न (भोजन) से सबको व्याप्त करती है।

इसी प्रकार अहोरात्र सवको व्याप्त करने के कारण अश्विनी हैं। इसी प्रकार व्याप्त करने के कारण सूर्य और चन्द्रमा अश्विनौ हैं जैसा कि शौनक ने लिखा है—

अश्नुवाते हि तौ लोकाञ्ज्योतिषा च रसेन च।
(बृहद्० 7-127)

सूर्य ज्योति (प्रकाश) से और चन्द्रमा रस (या सोम) से संसार को व्याप्त करते हैं अतः वे अश्विनी हैं, अतः ये गतिशील (√शुगतौ होने से अश्विनौ हैं।

इन अश्वियों का समय अर्धरात्र के अनन्तर है— 'तयोःकाल ऊर्ध्वमर्धरात्रात्' (नि० 12-1)

इन युगलदेवों में एक प्रकाशरूप है तो द्वितीय अन्धकाररूप जिन्हें क्रमशः दिन और रात भी कह सकते हैं। यास्क ने किसी लुप्त शाखा का मन्त्र उद्धृत किया है—

वसातिषु स्म चरथोऽसितौ पेत्वाविव ।
कदेदमश्विना यूवमभि देवां आगच्छतम् ।।

"तुम दोनों काले मेघों के समान रात्रियों (या वसाति जनपद) में विचरते हो । तुम दोनों अश्विनौ ! कब देवों के पास आते हो।" पुनः एक अर्धर्चा में रात्रि (वसाति) का पुत्र नासत्य और दूसरा उषा का पुत्र हैं—

"वासात्यो अन्य उच्यत उषः पुत्रस्तवान्यः ।"

अतः अश्विनौ दिनरात का नाम भी है। अर्धरात्रि के पश्चात् और उषःकाल से पूर्व तक अश्विनौ का समय होता है, उसी समय शीत या सोम का बाहुल्य होता है मन्त्र में इसका संकेत है—

प्रातर्युजा वि बोधयाश्विनावेह गच्छताम् ।
अस्य सोमस्य पीतये ।" (ऋ० 1-22-1)

यास्क ने अश्विनौ के ऐतिहासिक रूप का उल्लेख किया है कि ये दोनों अश्विनौ (अश्विनीकुमार) पुण्यात्मा राजा या राजकुमार थे । वैदिकग्रन्थों और इतिहासपुराणों में इनका इतिहास बहुधा कथित है, इनकी जन्मकथा बृहद्देवता में इस प्रकार वर्णित हैं—

अभवन्मिथुनं त्वष्टुः सरण्यूस्त्रिशिराः सह ।
स वै सरण्यूं प्रायच्छत् स्वमेव विवस्वते ।
स विज्ञाय त्वपक्रान्तां सरण्यूमश्वरूपिणीम् ।
त्वाष्ट्रीं प्रति जगामाशु वाजी भूत्वा सलक्षणः ।।
आघ्रातमात्राच्छुक्रात् कुमारौ संबभूवतुः ।
नासत्यश्चैव दस्रश्च यौ स्तुतावश्विनाविति ।।

इन अश्विनीकुमारों में एक का नाम नासत्य और दूसरे का नाम दस्र था। यास्क ने भी इस इतिहास का वर्णन किया है—'त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद् यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार । सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधायाश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव, स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य सम्बभूव । ततोऽश्विनौ जज्ञाते । सवर्णायां मनुः ।" (नि० 21-1-10) ।

निरुक्त और बृहदेवता में उल्लिखित इतिहास समान है, जिनका तात्पर्य है कि अश्विनीकुमार अश्वी (भागने वाली मानुषी) सरण्यू और अश्व = विवस्वान् के पुत्र थे ।

ऐतिहासिक अश्विनीकुमारों ने जो महान् ऐतिहासिक कर्म किये, उनका ऋग्वेद के बीसियों सूक्तों में विस्तार से उल्लेख है, यथा उन्होंने वृद्ध च्यवन ऋषि को पुनः युवा बना दिया, शर्याति, मानव के यज्ञ में । समुद्र में तुग्र्य के लिए शतारित्रा नाव का निर्माण किया। वचस्यु को प्राणदान किया, भुज्यु को समुद्र में डूबने से बचाया। इत्यादि ।

अश्विनीकुमारों के लिये त्रिबन्धुर त्रिलोकगामी रथ का निर्माण ऋभुभ्रताओं ने किया। अश्विनीकुमारों को सोमरस और मधु से विशेष अनुराग था। उन्होंने चर्म की 100 थैलियों में मधु का संचय किया। वे देवों के भिषक् (वैद्य) थे। वे आयुर्वेद के प्रमुख प्रवर्तक थे, उन्होंने ही इन्द्र को आयुर्विद्या सिखाई।

ऋग्वेद के 50 सूक्तों में नासत्यों की स्तुति है। इन्द्र, अग्नि और सोम के पश्चात् सर्वाधिक सूक्त अश्विनी के हैं। यज्ञादि में इनका आह्वान साथ-साथ होता है। इनका रथ, आदि सब कुछ हिरण्यवर्तनी मार्ग से लोकों की यात्रा करते हैं।

उषा माध्यमिक देवगणों में उषा की व्युत्पत्ति √ उच्छ (प्रकाश करना) से और द्युस्थानीय उषा की उत्पत्ति—वश (चमकने) से है। यह प्रातःकालीन सूर्य ज्योति का नाम है। ऋग्वेद के 20 सूक्तों में उषा की स्तुति गाई गई है। उषासूक्तों में काव्य का सर्वाधिक उन्मेष हुआ है। ऋषि के हृदय में उषा का स्तवन करते समय प्रकृति की सम्पूर्ण सुषमा पुष्पित एवं उन्मेषित हो उठी है। उषा प्रकाश और सौन्दर्य की देवी है। वह अर्जुनी, श्वेता, वाजिनीवती नर्तकी के समान सूर्योदय से पूर्व आकाश पर छा जाती है।

ऋग्वेद में उषा को कहीं सूर्य की पत्नी, कहीं रात्रि की भगिनी बताया गया है। वही मघोनी (धनदायी) एवं बोधयित्री है। उससे ऋषि, पुत्र की कामना करते हैं—

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति।
येन तोकं तनयं च धामहे ॥ (ऋ. 1-92-13)

उषा ज्ञान (केतु) या प्रकाश की देवी है।

सूर्या—उषा का ही एक रूप सूर्या है। सूर्य की शुभ्रवर्ण किरणें ही सूर्या है। यास्क के अनुसार सूर्योदय के समय अभिसृष्टकालतमा उषा ही सूर्या है। यह सूर्य की पत्नी है। यह सूर्य की पुत्री भी कही गई है। 'सविता सूर्यां प्रायच्छत सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा इति च ब्राह्मणम् (नि० 12-6) 'सविता ने प्रजापति सोम राजा को सूर्या दी। सूर्याविवाहसूक्त (ऋ० 10-85) इसी सूर्या को समर्पित है।

वृषाकपायी—यह भी सूर्य की पत्नी कही गई है—

वृषाकपायी सूर्योषाः सूर्यस्यैव पत्नयः (बृहद्देवता 2-8) शौनक ने सूर्यास्त के समय सूर्यप्रकाश (पीले प्रकाशवाला सूर्य वृषाकपि) वृषाकपायी कहा है (बृहद्देवता 2-10)

सरण्यू :—यह सूर्य का सरणशील सायंकालीन प्रकाश है, जो गूढ़ (गुप्त) रहता है। इतिहास में सरण्यू विवस्वान् की विवाहिता पत्नी थी, जो त्वष्टा की पुत्री एवं विश्वरूप त्वाष्ट्र की भगिनी थी। अश्विनी के प्रसङ्ग में इतिहास पूर्वपृष्ठों पर लिखा

जा चुका है ऋग्वेद (10-16।2) के इस मन्त्र में सरण्यू, सवर्णा, विवस्वान्, यम, यमी और अश्विनीकुमारों का स्पष्टत ऐतिहासिक उल्लेख है—

अपागहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामदर्दुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥

अमृता सरण्यू को मनुष्यों से छिपाया, सवर्णा को विवस्वान् के लिये दे दिया। दो मिथुनों (यम-यमी) को छोड़कर सरण्यू ने अश्विनौ को पैदा लिया।'

त्वष्टा सूर्य की दीप्ति ही दिव्य त्वष्टा है। इसकी एक व्युत्पत्ति दीप्त्यर्थक है—'त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः' (नि० 8-13)
शौनक ने लिखा है—

यः सहस्रतमो रश्मी रवेश्चन्द्रमुपाश्रितः ।
सोऽपि त्वष्टारमेवाग्निं परं चेह च यन्मधु ॥ (बृहद्दे 3-16)

सूर्य की त्वष्टाकिरण से ही चन्द्रमा प्रकाशित होता है, उसीसे चन्द्रमा में सोम उत्पन्न होता है। त्वष्टा है 'रूपकर्त्ता' है (त्वष्टा हि रूपाणि करोति तै० स० 2/6-2-1)।

ऐतिहासिक त्वष्टा का वणन भी निम्न मन्त्र में है—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥

(ऋ० 10।16।1)

'त्वष्टा ने पुत्री (सरण्यू) के लिए विवाह में दहेज दिया, समस्त पदार्थ उसको सम्यक् प्राप्त थे। विवाह के समय यम की माता और विवस्वान् की पत्नी सरण्यू छिप गई।'

सविता—'सविता सर्वस्य प्रसविता' सबका उत्पादक द्युस्थानीय सूर्यदेव ही है। मध्यमस्थानीय सविता के प्रसङ्ग में लिखा चुका है कि यह विश्व की नियामक और उत्पादक शक्ति का नाम है। सूर्योदय के पूर्व के समय उत्पन्न (दृश्यमान) सूर्य सविता है, यह उषा के पश्चात् सवितृरूप धारण करता है—

विनाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ।

(ऋ० 5।81।2)

'वरणीय सविता उषा का अनुगमन करता हुआ आकाश में दिखलाई पड़ता है।'

भग—जब सूर्य की भक्ति (पूजा) की जाती है, वह प्रातःकालीन भजनीय देव सूर्य ही भग है। ऐतिहासिक भग द्वादश आदितिपुत्रों में एक थे—ऋषि इतिहास को भूलता नहीं है—

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।

सूर्य ऊपर बिना उठे नहीं दिखलाई पड़ता अतः (ऋ० 7।41।12) यास्क ने लिखा है 'अन्धो भग इत्याहुरनुत्सृप्तो न दृश्यते' (नि० 12।8)

सूर्य— √सृ गतौ या षु प्रेरणे से सूर्य पद बनता है। प्रातःकालीन दृश्यमान प्रकाशपुञ्ज गोलक जो सरणशील होता है, उसे सूर्य कहते है। इसी सूर्य की ऋषि ने जातवेदाः संज्ञा कही है—

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम्।

(ऋ० 1।50।1)

'सब प्राणियों के दर्शनार्थ किरणें जगद्व्यापक प्रकाशवान् सूर्य को वहन करती है।' इसी सूर्य के विषय में मन्त्र है—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

(ऋ० 1।15।1)

'देवों (किरणें) का दर्शनीय समूह निकला, जो मित्र-वरुण, और अग्नि का चक्षुः है उसने द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को प्रकाश से भर दिया। यह सूर्य जङ्गम और स्थावर की आत्मा है।'

पूषा—रश्मियों द्वारा पुष्ट (तप्त) सूर्य ही पूषा है—'यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति (निरुक्त), इस समय सूर्य के दो रूप होते है—शुक्र (दीप्तिमान्) और यजनीय (दर्शनयोग्य-सौम्यरूप)।

इतिहास में पूषा अदिति का पुत्र था।

विष्णु—सूर्य का तप्तरूप मध्यदिन की ओर अग्रसर ही विष्णु है, जब वह समस्त संसार में प्रविष्ट हो जाते है—

विष्णतोर्विशतेर्वा स्याद् वे वेष्टेर्व्याप्तिकर्मणः।
विष्णुर्निरुच्यते सूर्यः सर्वः सर्वान्तरश्च यः॥

(बृहद्दे० 2।69)

'**विष्**—व्याप्तमान् अथवा विश् (प्रविश्यमान) और वेविष (आवृत करना) से विष्णु पद बना है अतः सूर्य ही विष्णु कहा जाता है, जो सब कुछ है और सर्वान्तर है। सब में व्याप्त है।

यास्क ने विष्णु के 'शिपिविष्टि' नाम की व्याख्या करते हुये लिखा है कि 'शिपि किरणों को कहते है, उनसे आविष्ट या आवेष्टित सूर्य ही विष्णु है।'

विष्णु को 'त्रिविक्रम' कहते है, क्योंकि वह अपने तीन विक्रमों (प्रक्रमों-पदों) से तीन लोकों नाप लेता है, जैसा कि मन्त्र में कहा है—

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। (ऋ० 1.22.17)

विष्णु को मन्त्रों में उरुगाय और उरुक्रम भी कहा गया है, विष्णु परमपद का स्वामी है। इतिहासपुराणों में विष्णु का वामनावतार प्रसिद्ध है, उसका आभास वेद मन्त्रों में भी है।

ऐतिहासिक विष्णु इन्द्र के अनुज (उपेन्द्र) थे। वृत्रवध के समय विष्णु ने इन्द्र की महती सहायता की थी।

विश्वानर—यह सूर्य का ही नाम है, यह स्वकिरणों (नरों) से विश्व को प्राप्त करता है अथवा विश्व (सौरमण्डल) का नेता है, अतः विश्वानर है।

वरुण—सूर्य रश्मियों से जगत् को आवृत कर लेता है अतः यह मध्यम स्थानी के साथ द्युस्थानीय देव भी है।

केशी—केशा कहते हैं रश्मियों को, तद्वान् सूर्य ही केशी है, (इसीको उत्तरकाल में केशव कहा गया)—

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ (ऋ० 10.136.1)

केशी अग्नि, जल और द्यावा पृथिवी को धारण करता है, केशी विश्व को देखता है, केशी ही ज्योतिः (सूर्य) है।'

केशिनः—पार्थिव अग्नि और विद्युत् ही उत्तरज्योतिष केशिनी है अथवा सूर्य-किरणों ही केशिनः है। वेद में पार्थिव, मध्यम और दिव्य अग्नियों को केशिनः कहा है — 'त्रयः केशिनः (ऋ० 1.164.44)

वृषाकपि—सायंकालीन कपिलकिरणयुक्त सूर्य को वृषाकपि कहते हैं।

इस पद के अनेक निर्वचन किये जा सकते है, परन्तु यास्क ने 'वृषाकम्पन' (वर्षा से कँपा देता है) यही एक निर्वचन किया है—'यद् रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद् वृषाकपिर्भवति वृषाकम्पनः, (नि० 12.27)। शौनक ने लिखा है

वृषं कपिलो भूत्वा यन्नाकमधिरोहति वृषाकपिरसौ तेन...॥
रश्मिभिः कम्पयन्नेति वृषा वर्षिष्ठ एव सः॥ (बृहद्दे० 2.67)

वर्षा का मूल कारण भी सूर्य है अतः वह वृषाकपि है।

यम—द्युस्थानीय देवों में यम प्रमुख है, यह वायु, अग्नि और सूर्य की संज्ञा है। ऐतिहासिकदृष्टि से यम विवस्वान् के पुत्र, पितरों के पूर्वज और पितृलोक के

शासक थे। इनका हर प्रकार से सूर्य से सम्बन्ध था। यह समय या काल का नियामक है। द्युस्थानीय देवों में यम सूर्य का ही नाम है।

अज एकपात्—यह निरन्तर गतिशील सूर्य की संज्ञा है जो मानो हंस के समान आकाशरूपी समुद्र में एक पाद (पैर) से खड़ा है, अथर्ववेद का मन्त्र हैं—

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्। यदङ्ग स।

तमुत्खिदेन्नेवाद्य न श्वः स्यान्न रात्रिर्नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन

(अथर्व० 11।4।21)

'यह हंस अपने एक पैर को नहीं उठाता है, यदि वह उसे उठावे तो न आज (वर्तमान) हो न श्व (कल = भविष्य) हो न प्रलय हो।' छान्दोग्योपनिषद् (3।18। 2) में ब्रह्म के चार पाद कथित हैं—'तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म अग्निः पादो वायुः पादः आदित्यः पादो दिशः पादः।'

पृथिवी—यह व्याख्यात है, द्युस्थानीयदेवों में पृथिवी ऊर्ध्वलोकों या भूमियों से अभिप्रायः है—

यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्या मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः।

(ऋ० 1-108-10)

अतः भूमियाँ या पृथिवी तीनों लोकों में हैं। और भी द्रष्टव्य है—

'यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः। (ऋ० 8।60।5)

समुद्र इसकी व्याख्या पहिले की जा चुकी है। अनन्तद्युलोक या आकाश ही समुद्र है। इस महान् समुद्र में सूर्य डूब जाता है—

महः समुद्रं वरुणस्तिरोदधे। (ऋ० 9-73-3)

इसके आगे निरुक्त में दध्यङ् (आथर्वण), अथर्वा, और मनु—दिव्य स्तोता या ऋषियों के नाम है—

यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत। (ऋ० 1-80-16)

आदित्य—द्युस्थानीय देवगणों में आदित्य प्रमुख है, इनमें से सूर्य के पर्याय वरुण, पूषन्, विष्णु आदि की पूर्व व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ पर गण (आदित्य गण-द्वादश देवता) अभिप्रेत हैं।

सप्त ऋषय—द्युस्थानीय सप्तऋषि सूर्य की सात किरणें हैं अथवा सप्तर्षि नक्षत्र भी द्युस्थानीय है। शरीर में मनः सहित चक्षुरादिक सात इन्द्रियाँ सप्तर्षि हैं—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे । (यजुर्वेद 34-55)

इतिहास में वसिष्ठ, विश्वामित्र, कश्यप, गौतम, भरद्वाज, इत्यादि सप्तर्षि प्रसिद्ध ही हैं।

देवा =द्यु स्थानीय देवों में सूर्य किरणें ही देवाः हैं ।

विश्वेदेवाः—आदित्य, रुद्र, वसु, मरुत आदि सब मिलकर विश्वेदेवाः कहलाते है, इनका व्याख्यान पूर्वपृष्ठों पर है ।

साध्यगण—एक मत में ये द्यु स्थानदेवगण (आकाशीय किरणें) हैं । इतिहास में ये पूर्वदेव या सिद्ध हैं (नि० 12।40) ।

वसवः—द्युलोक में वसने के कारण सूर्य-नक्षत्रों की किरणें वसु हैं । पृथिवी अग्नि आदि आठ वसु प्रसिद्ध हैं, इतिहास के वसु अन्य है ।

देवपत्नयः—इन्द्राणी, अग्नायी, अश्विनी, वरुणानी-प्राकृतिक और ऐतिहासिक देवों की पत्नियाँ देवपत्नी हैं ।

अध्याय चतुर्थ

हौत्रकल्प

आपस्तम्बीययज्ञपरिभाषाप्रश्न का द्वितीयप्रकरण हौत्रकल्प है। इस प्रकरण के पारिभाषिक पदों की यहाँ संक्षप में व्याख्या की जाती है। होता के कर्म को हौत्र कहते थे। उसी की संज्ञा 'हौत्रत्रल्प'[1] है।

पुरोऽनुवाक्या—जब अध्वर्यु यज्ञ को प्रारम्भ करना चाहता है तब संप्रेषित होता याज्या करता है, होता जिन मन्त्रों से देवता का आह्वान करना था, वे पुरोऽनुवाक्या कहलाते थे और जिन मन्त्रों से होम (यजन) करता था, वे याज्यामन्त्र कहलाते थे।[2] होता सर्वत्र याज्यामन्त्र से पूर्व "ये हवामहे" ऐसा कहकर आहुतियां देता है।

आश्रावण—अध्वर्यु, आग्नीध्रसंज्ञक ऋत्विक् से कहता था—आश्रावय—(सुनाओ), इसको ही आश्रावण कहा जाता है।

प्रत्याश्रावण—जब आग्नीध्र प्रत्युत्तर देता था—'अस्तु श्रौषट्'—सब कुछ कुशल (ठीक) है। यही वाक्य 'प्रत्याश्रवण कहलाता था।

याज्याप्रैष—तदनन्तर अध्वर्यु होता को यज्ञ करने का आदेश देता था—'यजयज' "यज्ञ करिये', यही वाक्य 'याज्याप्रैष' कहा जाता था।

वषट्कार—याज्यामन्त्र और आहुतियों के अनन्तर होता 'वषट्' कहता हुआ आहुतियाँ देता प्लुप्तस्वर से कहता था 'वषट्' आपकी कुशल हो' यही 'वषट्कार' 'वोषड्' कहा जाता था।

सप्तदश प्रजापति—ब्राह्मणगन्थों में 'यज्ञ' को 'सप्तदशप्रजापति' द्वारा नियन्त्रित कहा गया है।[3]

---

1. यज्ञे होतुः कर्म हौत्रमुच्यते, तस्य कर्मणो विधानमेव हौत्रकल्पः—! (आ० श्रौ—24-11-14)
2. ता अनूच्य देवता देवता आह्वायति या यक्ष्यमाणो भवति (आ० श्रौ—24-12-2)
   तथा द्र० 'ह्वयति वा अनुवाक्यया प्रयच्छति याज्यया (श० ब्रा० 1-7-2-17)
3. एष वै सप्तदश प्रजापति प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्तः (तै० ब्रा० का० 2,)

महाभारत,शान्तिपर्व (47-27) में इस सप्तदशप्रजापतियज्ञ को इस प्रकार कहा है—

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै होमात्मने नमः ॥

अक्षरसंख्या के द्वारा इस 'सप्तदशप्रजापतियज्ञ' की प्रकल्पना इस प्रकार की गई है—

4—अक्षर—आश्रावय
5—अक्षर—अस्तु श्रौषड्
2—अक्षर 'यज'
5—अक्षर 'ये यजामहे'
2 अक्षर 'वषट्'
18 अक्षर=17 अक्षर—प्रजापति

—अक्षर यद्यपि 18 होते हैं परन्तु माने गये हैं 17 ही ।

वीतमन्त्र—सोमक्रतु में वषट्कार के अन्त में अध्वर्यु द्वारा अग्नि में जो आहुतियां दी जाती हैं, उसके अन्त में मन्त्र कहा जाता है—'सोमास्याग्ने वीही 3 वौऽषड्', यही वीतमन्त्र कहा जाता है ।

अनुवषट्कार—वीतमन्त्र के अनन्तर जो वषट्कार (होम) होता है, उसे अनुवषट्कार कहते हैं ।

सामिधेनी—यज्ञ में अग्नि प्रज्वलित करते समय 'समिद् (ईंधन) के आधानार्थ मन्त्र पढ़े जाते हैं, उन्हें सामिधेनी कहते हैं । इन मन्त्रों को 'होतासंज्ञक' ऋत्विक् पढ़ता था । ऋग्वेद 3-27-1—11 के ग्यारह मन्त्र ही सामिधेनी कहे जाते हैं, यथा—

प्रवो वाज्या अभिद्यवो 'हविष्मन्तो घृताच्या—देवाञ्जिगाति सुम्नयुः' इत्यादि एकादश मन्त्र हैं । इन मन्त्रों में प्रथम और तृतीय मन्त्रों को 'होता' तीन बार पढ़ता था, इस प्रकार पन्द्रहमन्त्रों हो जाते हैं । इनमें चतुर्थ मन्त्र 'समिध्यमानवती' और ग्यारहवाँ 'समिद्धवती' कहा जाता है, आठवीं ऋचा 'धाय्या' कही जाती है । इन एकादश मन्त्रों में छः अन्य मन्त्रों को मिलाकर कुल 21 मन्त्रों की सामिधेनी होती थी ।

आपस्तम्बकल्प में होता सामिधेनी पढ़ने के पश्चात् प्रवर को कहता था, तदन्तर 'निवित्' कहता था । देवताह्वानादि के अनन्तर प्रयाज पञ्च आहुतियां होती थी ।

सामिधेनी में प्रत्येकमन्त्र के साथ 'प्रणव' ओंकार जोड़ा जाता था।[1] ऐसा कुछ आचार्यों का अभिमत था।

(प्रवराध्याय)

मानव, बौधायन आदि के कल्पसूत्रों के समान आपस्तम्बकल्प के चौबीसवें अध्याय में प्रवरों का वर्णन है। प्रवरों को ही आर्षेय कहते हैं। यह सिद्धान्त था कि यज्ञ में यजमान ऋषियों के प्रवर का कथन करता था, न कि मनुष्यों या देवों के प्रवर का। जैसा कि आचार्य आपस्तम्ब ने कहा है—'ऋषिणा हि देवा पुरुषमनुबुध्यन्त इति विज्ञायते[2]" यहाँ आचार्य ने किसी ब्राह्मणग्रन्थ का वचन प्रमाणस्वरूप उपस्थापित किया है। जब यजमानयज्ञ में दीक्षा के समय तीन प्रवर ऋषियों का नामोल्लेख-पूर्वक उच्चारण करता है, वही 'प्रवरण' कहा जाता है। ये ऋषि मन्त्रकृत् होने चाहिए। वह अपने पूर्वज मन्त्रकृत् ऋषियों का ही प्रवरण करता था, वे एक से तीन तक हो सकते हैं।[2]

मन्त्रकृत् ही ऋषि होते थे। तैत्तिरीयारण्यक, निरुक्तशास्त्र, बृहद्देवता और पुराणादि में बताया गया है कि पाँच कारणों से ऋषियों द्वारा मन्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ—

ऋषीणां तप्यतामुग्रं तपः परमदुष्करम्।
मन्त्राः प्रादुर्बभूवुर्हि पूर्वमन्वन्तरेष्विह॥
असन्तोषाद् भयाद् दुःखात् सुखाच्छोकाच्च पंचधा॥[3]

"ऋषियों को परमदुष्करतप करते हुए, पूर्वमन्वतरों में इस लोक में पाँच कारणों से मन्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ—असन्तोष, भय, दुःख, सुख और शोक से।

कल्पसूत्रों, और पुराणों में प्रवरों की लम्बी-लम्बी सूचियाँ मिलती हैं। बौधयनकल्पसूत्र का महाप्रवरकाण्ड, इनमें सर्वाधिक विस्तृत है। कात्यायन ने परिशिष्ट में प्रवराध्याय बनाया है। मानवकल्पसूत्र का प्रवराध्याय कात्यायन प्रवराध्याय से महती समानता रखता है। वायुपुराण (56-59), ब्रह्माण्डपुराण (2-32-62) और मत्स्यपुराण (145-58 में भी प्रवरसूचियां मिलती है। प्रवरसूचियों की प्रामाणिकता एवं शुद्धि के हेतु पाणिनिव्याकरण (अष्टाध्यायी एवं गणापाठ) अतीव सहायक है।[1]

---

1. आ० श्रौ० (24-11-17), (2) आ० श्रौ(24-5-4)
2. त्रीन्वृणीते मन्त्रकृतो वृणीते। यर्थाषि मन्त्रोकृतो वृणीतेइतिविज्ञायते।—एकं वृणीते। द्वौ वृणीते। त्रीन्वृणीते। न चतुरो वृणीते। न पञ्चातिवृणीत इति विज्ञायते॥ (आ० श्रौ० 24-5-6-7)
3. ब्रह्माण्डपुराण (2-62-67-68);

मध्ययुग में पुरुषोत्तम पण्डित ने सभी प्राचीनग्रन्थों का सार संकलित करके 'गोत्रप्रवरमञ्जरी' संज्ञकग्रन्थ की रचना की, इसको जोहन ब्रू नाम पाश्चात्यविद्वान् ने सम्पादित करके प्रकाशित किया था

प्रवरों की सूचियों का ऐतिहासिक अनुसन्धान की दृष्टि से भी पर्याप्त महत्व है। नीचे, पुराणों और आपस्तम्बकल्प की अनुसूचियों का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया जाता है, जो इस विषय के अनुसंधित्सुओं के लिए उपयोगी रहेगा।

सर्वप्रथम दश विश्वस्रज् प्रजापतियों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनसे समस्त मानवी सृष्टि हुई—

विश्वसृजः प्रथमाः सत्रमासतः।
सहस्रसमं प्रसुतेन यन्तः॥
ततो ह जज्ञे भुवनस्य गोपा।
हिरण्मयः शकुनिर्ब्रह्म नामेति॥ (आ. श्रौ. 23-14-16)

इस विश्व (संसार) को विश्वस्रजों ने सृजा, अतः वे विश्वस्रज् प्रजापति कहलाये। विश्व उनके पश्चात् उत्पन्न हुआ। वे ही आदिम पुरुष थे। इन विश्वसृजों ने एकसहस्रसंवत्सर का दीर्घसत्र किया था।[2] ये दश विश्वसृज थे—

भृगुर्मरीचिश्च ह्यङ्गिराः पुलहः क्रतुः।
मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्च ते दश॥

"(स्वयम्भूसहित), भृगु मरीचि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य—ये दश हुये।"

ब्रह्माण्डपुराणादि में कुल 96 मन्त्रकृत् प्रवरऋषि कथित हैं। ऋषियों के निम्नवंश ही वहाँ मन्त्रकृत् कहे गये हैं—(1) भार्गव (2) आङ्गिरस (3) काश्यप (4) आत्रेय (5) वासिष्ठ (6) कौशिक (7) आगस्त्य।

वेद और इतिहासपुराण में सर्वाधिक महत्त्व भार्गव ऋषियों का कथित है, उनका नाम सर्वप्रथम आता है—'महर्षीणां भृगुरहम्' (गीता)।

---

1. Panini as is well knoun, gives a detailed and intricate set of rules for the formation of gotra names by means of sutras Both the Text of Panini and that of the ganapatha is therefore supply us ith a very valuable evidence in a number of cases for reconstruction of text of the Pravara lists (The early Brahmanical system of gotras Pravara list J. Brough, p. 51 or gotra Pravara Manjari of Purusotama).
2. विश्वस्रजां सहस्रसंवत्सरम्। एनेन वै विश्वसृजं इदं विश्वमसृजन्त यद्विश्वससृजन्त तस्माद्विश्वसृजः। विश्वमेनाननुप्रजायन्ते॥ (आ. औ. 23-1-15-4-15)

पुराणों में 19 भार्गव मन्त्रकृत् ऋषि उल्लिखित हैं—(1) भृगु (2) उशना काव्य (3) प्रचेताः (वरुण), (4) दध्यङ् आथर्वण (5) आप्नवान् (6) ऋचीक और्व (7) जमदग्नि (8) विद (9) सारस्वत (अपान्तरतमा) (10) आर्ष्टिषेण (11) च्यवन (12) वीतहव्य (13) सुमेधा (14) पृथु (15) वैन्य (16) दिवोदास (17) वाध्य्रश्व (18) गृत्समद (19) शौनक।

आपस्तम्ब ने भार्गवों के पाँच आर्षेय प्रवर बताये हैं—(1) भृगु (2) च्यवन (3) आप्नवान् (4) ऊर्व (5) जमदग्नि।[1] ये पाँच प्रवर ऋषि—इन गोत्रों के भी माने गये—सार्वाणि, जीवन्ति, जाबाल्य, ऐतिशायन, वैरोहित्य, आवट, मण्डु और प्राचीन-योग्य।[2]

आर्ष्टिषेण भार्गवों के पाँच प्रवर ऋषि थे—अनूप, ऋष्टिषेण आप्नवान्, च्यवन और भृगु।

वीतहव्य मूलतः क्षत्रिय थे, जो युद्ध में काशिराज प्रर्तदन से परास्त होकर भार्गवों की शरण में चले गये और ब्राह्मण हो गये। वीतहव्य, यास्क, वाधूल, मौन और ब्राह्मणों के तीन आर्षेय प्रवर थे—सावेदस्, वीतहव्य और भृगु।[3] गार्त्समदों और मौक शुनकों का एक ही प्रवर था गार्त्समद (शौनक), [4] बाध्रयश व मित्रयुगोत्र का एक प्रवर था वाध्य्रश्व। वैन्य पार्थों के तीन प्रवर थे—पार्थ, वैन्य और भार्गव या पृथुवैन्य और भृगु।

पुराणों के अनुसार—तैंतीस (33) आङ्गिरस ऋषि मन्त्रकृत थे—(1) अङ्गिरा (3) त्रित, (3) ऋतवाक (4) गर्भ (5) शिनि (6) भरद्वाज (7) संकृति (8) गुरु-वीति (9) मान्धाता (10) अम्बरीष (11) युवनाश्व (12) पुरुकुत्स (13) त्रसद्दस्यु (14) सदस्युमान् (15) आहार्य (16) अजमीढ (17) ऋषभ (18) कवि (19) पृषदश्व (20) विरूप (21) कण्व (22) मुद्गल (23) उतथ्य (24) उतथ्य (उचथ्य) (25) शरद्वान् (26) वाजश्रवा (27) अयास्य (28) सुवित्ति (29) औशिज (30) वृहदुक्थ (31) दीर्घतमा (32) कक्षीवान्। पुराणपाठों में एक आङ्गिरस मन्त्र-कृत् ऋषि का नाम लुप्त है। यह नाम वृहस्पति होना चाहिए।

अङ्गिरा ऋषि पृथुवैन्य के समकालीन ऋषि थे। अङ्गिरा ऋषि देवयुग से

---

(1) तेषां पंचार्षेयाः प्रवराः। भार्गवच्यावनाप्नावानौर्वजामदग्नयः (आ० श्रौ. 24-5-2)

(2) सार्वणिजीवन्तिजावालैतिशायनवैरोहित्यावटमण्डुप्राचीनयोग्यानाम् (आ. श्रौ. 24-5-14)

(3) एते वीतहव्या यास्कवाधूलमौनमौकाः। तेषां त्र्यार्षेयाः। भार्गवो वैतहव्य-सावेदसइति। (आ. श्रौ. 24-6-1-2)

(4) अथ गार्त्समदाः शुनकाः तेषामेकार्षेयः (24-6-3-4)

पूर्व ही दिवंगत हो चुके थे, अतः देवयुग और उसके पश्चात् के इतिहास में इनका नाम सुनाई नहीं पड़ता। आङ्गिरसकुल में अनेक गोत्रप्रवर्तक ऋषि उत्पन्न हुए, यथा—गोतम दीर्घतमा (मामतेय) जो एक सहस्रवर्ष जीवित रहे।[1] यह प्राचीनतम ऋषियों में थे। इनसे प्राचीनतर थे, वृहस्पति आङ्गिरस और भारद्वाज बार्हस्पत्य। कण्व (नार्षद, नृषद् के पुत्र) भी प्राचीन ऋषि थे।

आङ्गिरसब्राह्मणों के प्राचीनतम गोत्रप्रवर्तक थे—अङ्गिरा, अयास्य और गोतम। अयास्य ऋषि, विश्वामित्र और वसिष्ठ के साथ प्रसिद्ध राजा हरिश्चन्द्र के ऋत्विक् थे।

गोतमवंश के औशिज कक्षीवान् और वामदेव गोत्रप्रवर्तक ऋषि हुए। इनके प्रवर आर्षेय थे—अङ्गिरा, वामदेव और वृहदुक्थ। भारद्वाजों के तीन प्रवर आर्षेय ये थे—अङ्गिरा, भारद्वाज और बृहस्पति। ये प्रवर ऋषि थे—निम्न गोत्र के—यथा-कुत्स, अग्निवेश, उर्जायन, आपस्तम्ब। इन अङ्गिराओं में अनेक द्वयामुष्यायण कुल थे, अर्थात् इनके दो-दो गोत्र या पिता थे, यथा शुंग, शैशिरि। भरद्वाज, शुंग, और शिशिरि। इनके पंच आर्षेय थे—उत्कील, कत, भारद्वाज और अङ्गिरा। इनके अतिरिक्त अन्य गोत्र प्रवर्तक अंगिरा ऋषि थे—मतवच, वन्दन, कपि, उरुक्षय, महीयद्, गर्ग, शिनि, हरित, इत्यादि। इन अङ्गिराओं में अनेक क्षत्रियवंश सम्मिलित हो गये थे, इनमें गर्ग, शिनि, संकृति और गुरुवीत यादववंशीय ब्राह्मण थे और अम्बरीष, युवनाश्व, मान्धाता, पुरुकुत्स त्रसदस्यु, सदस्युमान् और आहार्य ऐक्ष्वाक राजा थे। अजमीढ कण्व आदि भी भरतवंशीय क्षत्रिय थे। ये सभी क्षत्रिय मन्त्रद्रष्टा थे और ब्राह्मण बन गये थे। हरित भी प्रारम्भिक ऐक्ष्वाकक्षत्रिय थे, जो उत्तरकाल में ब्राह्मण हो गये। हारीतगोत्र बाद में बहुत प्रसिद्ध हुआ।

कुत्स से कौत्सगोत्र प्रसिद्ध हुआ, जमिनि कौत्स ब्राह्मण थे। इनके तीन प्रवर आर्षेय थे—कुत्स,मान्धाता और अङ्गिरा-विरूप और रथीतर ब्राह्मणों के प्रवर थे अंगिरा विरूप और रथीतर पृषदश्व। अंगिरा के स्थान पर 'अष्ट्रादंष्ट्र' को मानते थे।[2]

मुद्गल भार्ग्यश्व पांचालदेशीय क्षत्रिय राजा था, जो प्रसिद्ध मन्त्रद्रष्टा ऋषि हुआ, इनके तीन प्रवर थे—अङ्गिरा, मुद्गल और भार्म्यश्व। अङ्गिरा के स्थान पर इनका एक प्रवर था तृक्ष (तार्क्ष्य)।[3]

विष्णुवृद्ध क्षत्रोपेत ब्राह्मणों के तीन प्रवर थे—अङ्गिरा, पुरुकुत्स, त्रसदस्यु। ये इन गोत्रों के प्रवर आर्षेय थे—शठ, मर्षण, भद्रण, मद्रण, बादरायण, औपमन्यव औपगवि, सात्यकि, सात्यकामि, आरुणि और नितुण्डि। इनमें बादरायण (व्यास नहीं)

---

1. दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे (ऋग्वेद)

2. अष्ट्रादंष्ट्रमुह्यैकेऽङ्गिरसः स्थाने' (आ. श्रौ. 24-8-6)

2. तृक्षमुहैकेऽङिरसः स्थाने (आ. श्रौ. 24 8-8)

और औपमन्यव आदि वशिष्ठगोत्र के अन्तर्गत थे, इनको आंगिरस भी माना जाता था। पुराणों में छः आत्रेय मन्त्रकृत् ऋषि कथित हैं—(1) अत्रि (2) अर्चनाना (3) श्यावाश्व (4) गविष्ठिर (5) आविर्होत्र और पूर्वातिथि।[1]

आपस्तम्ब ने अत्रियों के तीन प्रवर कहे हैं—अत्रि, अर्चनाना और श्वावाश्व गविष्ठिरों के गविष्ठर, अर्चनाना और अत्रि प्रवर थे। इसी प्रकार अतिथिवंशीयों के अतिथि, अर्चनाना और अत्रि प्रवर थे। ये ही वामरथ्य, सुमङ्गल और वैजवापियों के प्रवर थे।[2]

पुराणों में 13 मन्त्रकृत् कौशिक ऋषि कथित हैं—(1) विश्वामित्र (2) देवरात (3) उद्धल (4) मधुच्छन्दा (5) अघमर्षण (6) अष्टक (7) लोहित (8) कत कील (10) देवश्रवाः (11) रेणु (12) पूरण (13) धनंजय।

विश्वामित्र के पितामह कुशिक राजा थे। उनके नाम से वे कौशिक कहे जाते हैं। विश्वामित्र का पूर्वनाम विश्वरथ था। विश्वामित्र क्षत्रिय से ऋषि और ब्राह्मण बन गये। इनके 101 पुत्र थे। हरिश्चन्द्र के यज्ञ में इन्होंने शुनःशेप को कृत्रिम पुत्र बनाया—जो देवरात कहलाया। विश्वामित्र के वंशज कौशिक या विश्वामित्र भी कहे जाते थे, इसीलिये अनेक विश्वामित्रों या कौशिकों से एक का भ्रम होता है।

आपस्तम्ब ने निम्न वैश्वामित्रों का उल्लेख किया है

(1) देवरात (2) चिकित (3) मनु (4) तन्तु (5) औलकि—(6) वालुकि (7) यज्ञवल्क्य (8) उलूक (9) बृहदग्नि (10) बभ्रु (11) गालवि (12) शालावत (13) शलङ्कायन (14) कालबव।[3] इनके तीन गोत्रप्रवर थे—विश्वामित्र, देवरात और उद्धल।

इसी प्रकार मधुच्छन्दा, धनंजयादि गोत्रप्रवर्तक थे।

इनमें अष्टक प्रसिद्ध क्षत्रियनरेश था, जिसने मन्त्रों की भी रचना की। महाभारत आदिपर्व में ययाति-अष्टक संवाद विख्यात हैं=विश्वामित्र के वंश में ही कत के वंशज कात्यायन और यज्ञवल्क के वंशज याज्ञवल्क्य ब्राह्मण हुए, जिनका वैदिक साहित्य के निर्माण में पर्याप्त योगदान था।

वेद के छः काश्यप ऋषि पुराणों में प्रसिद्ध है—(1) कश्यप (2) वत्सार (3) नैध्रुव (4) रैभ्य (5) असित और (6) देवल। इनके तीन प्रवर थे —कश्यप, वत्सार, और रेभ। शण्डिल्योंके दोआर्षय थे—देवल ओर असित।

---

1. वादरायण और व्यास पाराशर्य, पृथक् पृथक व्यक्ति थे, इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जायेगा।
2. एष एवाविकृतो वा सुमङ्गलबैजवापीनाम् (आ० औ 24-8-1)
3. आ० श्रौ (28-9-1)

पुराणों में सात वसिप्ठ मन्त्रकृत् ऋषि उल्लिखित हैं—(1) वशिष्ठ (2) शक्ति (3) पराशर (4) इन्द्रप्रमिति (5) भरद्वसु (6) मैत्रावरुणि और (7) कुण्डिन।

इनका एक ही प्रवर था—वसिष्ठ। किन्हीं के मत में तीन प्रवर थे—वशिष्ठ, पराशर और कुण्डिन। कुण्डिनों के तीन आर्षेय प्रवर थे—वशिष्ठ, मैत्रावरुणि और कुण्डिन। शक्ति, संस्कृति और गौरवीति संकृतियों के प्रवर थे।

आगस्त्य ब्राह्मणों का एक ही प्रवर था—अगस्त्य। अन्य मत से तीन प्रवर थे—आगस्त्य दृढ़च्युत इध्मवाह और अगस्त्य।

क्षत्रियों के दो प्रमुख प्रवर थे—मनु वैवस्वत और पुरूरवा ऐल—,वैश्यों के प्रवर थे—वात्सप्रि भालन्दन, एकमात्र। ताण्डिशाखामत से सब का एक ही प्रवर था—मनु।[2]

(2) एकार्षेयाः वाशिष्ठा अन्यत्रः पराशरेभ्यः— (आ० श्रौ० 24-10-4)

(3) अथाहतण्डिन एकार्षेयं सार्ववर्णिकं समामनन्ति। (आ० श्रौ 24-10-18।

अध्याय— पंचम

आपस्तम्बकालीन ज्योतिष और कालमान

ज्योतिष का महत्व—वेद और यज्ञविद्या में ज्योतिष का महत्व विद्वानों को अविदित नहीं है। ज्योतिष का पूर्णतः कालविज्ञान से सम्वन्ध है। ज्योतिषशास्त्र वेद का एक अंग (षड्वेदांगों में) है। 'ज्योतिष' शब्द कालविज्ञान के अर्थ में अनेक वैदिकग्रन्थों में प्रयुक्त हुआ है, यथा मुण्डकोपनिषद्, आपस्तम्बधर्मसूत्र और वेदांग ज्योतिष में। यज्ञों के लिए ज्योतिष का ज्ञान अनिवार्य था—

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्व्याश्च विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविज्ञानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान् ॥[1]

"वेद यज्ञार्थ के लिए रचे गए और यज्ञ कालानुपूर्व ही विहित किये गए हैं। इसलिए जो कालविज्ञानशास्त्रज्योतिष को जानता है, वही यज्ञों का विधान जान सकता है।"

उपर्युक्त श्लोक में ज्योतिष को कालविज्ञानशास्त्र कहा गया है। इस अध्याय में, संक्षेप से, आपस्तम्वकल्प में उल्लिखित ज्योतिष का अध्ययन, अन्य वैदिकग्रन्थों ग्रन्थों के सहाय्य से किया जायेगा।

आपस्तम्ब एवं अन्य प्राचीनधर्माचार्यों ने ज्योतिष या कालसम्बन्धी निम्न संज्ञाओं का प्रयोग किया है—

4 निमेष = 1 तुट	15 मुहूर्त = 1 अहोरात्र
2 तुट = 1 लव	15 अहोरात्र = 1 पक्ष
2 लव = 1 निमेष	7 अहोरात्र = 1 सप्ताह
5 निमेष = 1 काष्ठा	60 नाडिका = 1 अहोरात्र
30 काष्ठा = 1 कला	2 पक्ष = 1 मास
40 कला = 1 नाडिका	12 मास = 1 वर्ष
2 नाडिका = 1 मुहूर्त	30 दिन = 1 मास

लोक और वेद में चन्द्रमा की षोडशकला प्रसिद्ध हैं। कला और काल शब्द 'कल' धातु से बने हैं, जिसका अर्थ गणना होता है। कलाओं का सुपरिणाम ही काल है।[2]

---

1. वेदाङ्गज्योतिष (श्लोक 3)
2. कलानां सुपरीमाणः काल इत्यमिधीयते (वायु० पु० 100-225

वर्तमान पाश्चात्यकालविभाग में लघुतम कालांश सेकेण्ड होता है, जो मिनट का साठवाँ भाग होता है। परन्तु प्राचीनभारतीयकालगणना में और भी सूक्ष्म कालांश विहित थे यथा शतपथब्राह्मण (12-3-2-8) में लोमगर्त, स्वेदायन आदि सेकेण्ड से अति सूक्ष्मतम कालांश कथित हैं यथा द्रष्टव्य है—शतं शतानि पुरुषः समेनाष्टो शता यन्मितं तद्वदन्ति अहोरात्रयोः पुरुषः समेन तावत्कृत्वः प्राणिति चापि चानिति-श्रमादि से व्यतिरिक्त पुरुष अहोरात्र (एकरात, एक दिन) में 10800 प्राण वायु (श्वास) लेता है और इतने ही निःश्वास छोड़ता है। अग्निचयननाम के अतियज्ञ में इतनी इष्टकाओं का 'चयन' किया जाता था और एक युग भी इतने ही वर्षों का होता था—जैसाकि अथर्ववेद में कहा है—

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।[1] युगमानों का संक्षिप्त विश्लेषण इसी अध्यायके उत्तरखण्ड (कालमान) में किया जायेगा।

शतपथ में में लोमादि आदि सूक्ष्मतर कालांशों का उल्लेख द्रष्टव्य हैं—है—यावन्तो निमेषास्तावन्तो लोमगर्ता यावन्तो लोमगर्तास्तावन्तो निमेषास्तावन्तो स्वेदायनानि तावन्त एते स्तोका वर्षन्ति।"[2]

प्राचीनभारत में होरा[3] (घण्टा), मुहर्त, रात्रि दिन, मास और पक्ष तथा वर्षों के नाम भी रख दिये गये थे, इनका विवरण आपस्तम्बकल्पसूत्र एवं अन्य वैदिकग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है।

नक्षत्र,वार और ग्रहों के नाम सर्वप्रथम वेद के आधार पर ही प्राचीनविश्व में कालविभाग के 15, 30 और 60 का विभाजन प्राचीनभारतीयमूल से ही ग्रहण किया गया। 30 दिन का मास होता है, 15 दिन का पक्ष होता है 30 रात्रि और 30 दिन मिलकर महीने में 60 अहोरात्र होते हैं—

काष्ठा निमेषा दश पञ्चैव त्रिंशच्च काष्ठा गणयेत् कलान्तम्।
त्रिंशत्कलाश्चैव भवेन्मूहूर्तस्तैस्त्रिंशता रात्र्यहनी समेते।"

(वायुपुराण 50-169

"15 निमेषों की एक काष्ठा होती है, 30 की काष्ठा की एक कला होती हैं। 30 कलाओं का एक मुहर्त और तीस मुहर्त का एक दिन रात होता है।"

ग्रहवारनाम—वेदों और कल्पसूत्रों में सोमक्रतुओं के अवसर पर तीन सवनों में अनेक सोमग्रहों का ग्रहण किया जाता था ग्रह मूलत एक पात्र का नाम था, परन्तु इसी आधार आकाशीय नक्षत्रों और ग्रहों का आभास भी होता था। सोमयज्ञ के प्रमुख ग्रह थे—शुक्रामन्थिग्रह, ऐन्द्राग्नग्रह, वैश्वदेव आदित्य ग्रह सौम्यग्रह, ध्रुवग्रह,

---

1. अथर्ववेद(8-2-21),
2. श० ब्रा० (12-3-2-4-5)
3. होरा (Hour) शब्द संस्कृत के 'अहोरात्र' का एक विकृतरूप है। संस्कृत में घण्टे को होरा कहते थे।

सावित्रग्रह इत्यादि ।[1]

ग्रहों के नाम मूलतः देवों और ऋषियों के नाम पर रखे गए थे—यथा सप्तर्षियों (वसिष्ठादि) के नाम पर सप्तर्षिनक्षत्रगण का नाम रखा गया, विवस्वान् आदित्य अदितिपुत्र के नाम से सूर्य को आदित्य कहा गया। उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव के नाम पर ध्रुवनक्षत्र का नाम रखा गया, यह पुराणों में स्पष्ट ही कहा गया है। देवगुरु बृहस्पति के नाम पर बृहस्पतिग्रह का नामकरण हुआ—

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो तिष्यं नक्षत्रमभिसंबभूव ।[2] असुरगुरु शुक्राचार्य के नाम से शुक्रग्रह का नाम प्रथित हुआ, जिसको वेद में 'वेनः' (वेनस्) भी कहते थे। यूरोपीय भाषाओं में शुक्र को आजतक Venus कहते हैं। अतः ग्रहनक्षत्रों का नामकरण बलि के पाताल (योरोप) में उपनिवेश बसाने से पूर्व हो गया था, यह पहिले ही बताया जा चुका है कि बलि के नेतृत्व में दानवमर्क आदि ने योरोप में डेनमार्क आदि देश बसाये। भारतीय और योरोपीय ग्रहनक्षत्रों के नामसाम्य का यही एकमात्र कारण है।

वेद में सूर्य को 'आदित्य' कहते हैं सूर्य का अपभ्रंशरूप है सन (sun), फारसी में इत (आदित्य) वार और अंग्रेजी में सनडे इसी सूर्य और आदित्य के नाम से पड़ा। चन्द्रमस् और सोम वेद में प्रसिद्ध हैं। मस् से ही मास=(महीना) शब्द बना, इसी से अंग्रेजी का मून (Moon), इसीलिए संस्कृत में सोमवार और प्राचीन यूरोप में मूनडे या मनडे (Monday) प्रसिद्ध हुआ।

वेद में मरुत् (गण) प्रसिद्ध हैं, ये ही विघ्नेश, या विघ्नहर्त्ता गणेश या मंगल' है। यूरोपीय देवशास्त्र में मार्स (mars) युद्ध के देवता है, वेद में भी वे युद्ध के देवता है। अंग्रेजी के ट्यूज शब्द में मरुत् के 'त्' का ही अवशेष है। इसीसे ट्यूजडे या मंगलवार। सोमपुत्र बुध के नाम पर बुधवार प्रथित हुआ और यूरोप के wednesday में वेडेन-बुध का ही विकृतरूप है, स्पष्ट है। बृहस्पतिग्रह और वार का नाम देवगुरु 'बृहस्पति' शब्द का एकरूप योरोपीय भाषाओं में 'थर' या 'थोर' हो गया, इसी से अंग्रेजी का थर्सडे बना।

शुक्रग्रह उगने पर शादी विवाह होते हैं, यह काम (मैथुन) या प्रेम (Sex) का देवता है। शुक्र वीर्य या चमक को भी कहते हैं, शुक्राचार्य कामशास्त्र के प्रवर्तक और तेजस्वी पुरुष थे, उन्हीं के नाम पर शुक्रवार प्रथित हुआ। अंग्रेजी का Fri शब्द संस्कृत के 'प्रिय' का विकार है, क्योंकि शुक्रवार प्रिय या प्रेम का दिन होता था।

सूर्यपुत्र शनैश्चर के नाम पर शनिवार की ख्याति हुई, अंग्रेजी में ग्रह और वार को सैटर्नडे सैटरडे कहते ही हैं, ये वैदिक 'शनि' के विकार हैं, इसमें किसी को सन्देह ही नहीं।[3]

आपस्तम्बकल्प में मुहूर्त, दिन और रात्रिनाम—आपस्तम्ब ने तैत्तिरीय

---

1. द्र० आपस्तम्ब श्रौ० (13-4)
2. तै. ब्रा० (2-8-2)
3. उपर्युक्त विवरण से भारतीय वारों के नामकरणादि के विषय में जो भी भ्रम हैं, समाप्त हो जाने चाहिए।

सम्प्रदाय के अनुसार श्रौतसूत्र (19-11) में सावित्रचयन के प्रसङ्ग में परिमण्डल, मुहर्त, दिन और रात्रिनामों का कथन दिया है—[1] सविता सूर्य को ही कहते थे। उसके निमित्त सावित्रचयन किया जाता था। उत्तरवेदिदेश के मध्य में सूर्य या सविता का प्रतीक रथचक्रमात्र गोल परिमण्डल (सूर्य) बनाया जाता था और कुछ अन्तराल से नवग्रहों के प्रतीक नौ परिमण्डल और खींचे जाते थे—'उत्तरवेदिदेशास्य मध्ये शङ्कुं निहत्य सर्वतः परिमण्डलं रथचक्रमात्रे सावित्रं परिलिख्य—अभ्यन्तरं नव लेखा लिखित्वा—।" (आ० श्रौ० 17-11-6)।

नवमी लेखा में पूर्वपक्ष के पन्द्रह दिनों की प्रतीक इष्टिकायें 15 रखी जाती थी, उनके नाम थे—संज्ञान, विज्ञान, प्रस्तुत निष्टुत इत्यादि। मूहर्तों के नाम थे—चित्र, केतु, दाता, प्रदाता इत्यादि, रात्रियों के नाम थे, दर्श, दृष्टा, सुता, सुन्वता इत्यादि। पक्षों के नाम थे—पवित्र, पविष्यन्, सहस्वान् सहीयान् इत्यादि। तैत्तिरीय सम्प्रदाय आपस्तम्बकल्प में मासों के नाम हैं—अरुण, अरुणरजा, पुण्डरीक, विश्वजिद् अभिजित्, आर्द्र, पिन्वमान् उन्नवान् रसवान्, इरावान् सम्भर, सहस्वान्, त्रयोदश मलिम्लुच मास का उल्लेख है। इस प्रकार वैदिकग्रन्थों में तीन प्रकार के मासनाम उल्लिखित हैं—

चैत्र	=	मधु	=	अरुण
वैशाख	=	माधव	=	अरुणरजा
ज्येष्ठ	=	शुक्र	=	पुण्डरीक
आषाढ़	=	शुचि	=	विश्वजित्
श्रावण	=	नभ	=	अभिजित्
भाद्रपद	=	नभस्य	=	आर्द्र
आश्वयुज्	=	इष	=	पिन्वमान्
कार्तिक	=	ऊर्ज	=	उन्नवान्
मार्गशीर्ष	=	सह	=	रसवान्
पौष	=	सहस्य	=	इरावान्
माघ	=	तप	=	सम्भर
फाल्गुन	=	तपस्य	=	सहस्वान्

तृतीय प्रकार के नाम अरुण आदि केवल तैत्तिरीयसंहिता-तैत्तिरीयब्राह्मण और आपस्तम्बकल्प में ही मिलते हैं।

नक्षत्रनाम—पुराणों में उल्लिखित है कि प्रजापति दक्ष की 27 पुत्रियाँ प्रजापति सोम की पत्नियाँ थीं, जिनके नाम रोहिणी आदि थे; नक्षत्रों के नाम हैं भी स्त्रीलिंग में।

आपस्तम्बकल्प में अग्न्याधानप्रकरण (5/3) में इन नक्षत्रों के नाम मिलते

हैं—रोहिणी, कृत्तिका, मृगशीर्ष, पुनर्वसु, फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, विशाखा, अनुराधा, श्रवण, और प्रौष्ठपद ।[1] इन कृत्तिकादि में अग्न्याधान का विधान था।

अथर्ववेद में सम्पूर्णनक्षत्रों के नाम इस प्रकार हैं—

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि ।
अष्टाविंशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम् ।
सुहवं मे कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा ।
पूनर्वसुः सूनृता चारुः पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा ये ।
पुण्यं पूर्वाफाल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वातिः सुखो अस्तु ।
राधो विशाखे सहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रपरिष्ठं मूलम् ।
अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढ़ा ऊर्जं ये ह्युत्तर आवहन्तु ।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यद्वया श्रवणः श्रविष्ठा कुर्वतां सुपुष्टिम् ।
आ मे महच्छशतभिषग्वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म ।
आरेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आवहन्तु ।[2]

कृत्तिका नक्षत्र में 7 तारा है, जिनके वैदिक नाम थे—अम्बा, दुला, नियन्ती, भ्रयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती, चुम्पुणीका ।[3] इन सातों का नाम भी महादेव शिव कालीन (देवयुगीन) सात स्त्रियों के नाम पर पड़ा था, इन्होंने शिवपुत्र का पालन किया था, इनके नाम पर ही कुमार का नाम 'कार्त्तिकेय' पड़ा ।

प्रत्येक नक्षत्र का सम्बन्ध किसी वैदिक देवता से था, संभवतः जिस प्रकार रोहिणी सोम (चन्द्रमा) की पत्नी थी, उसी प्रकार कृत्तिकादि अग्नि आदि की पत्नियां थीं । तैत्तिरीयसंहिता में इनका सम्बन्ध इस प्रकार कथित है—

नक्षत्र		**देवता**
कृत्तिका	=	अग्नि
रोहिणी	=	प्रजापति (सोम)
मृगशीर्ष	=	सोम
आर्द्रा	=	रुद्र
पुनर्वसु	=	अदिति
तिष्य	=	बृहस्पति
आश्लेषा	=	शर्व
मघा	=	पितर
पूर्वाफाल्गुनी	=	अर्यमा

1. कृत्तिकासु ब्राह्मण आदधीत ब्रह्मवर्चस्वी भवति रोहिण्यामाधाय सर्वान् रोहान् रोहति,' मृगशीर्षे ब्रह्मवर्चस्कामोयज्ञकामोवा,' 'यः पुरा भद्रस्सन् पापीयान् स्यात्स पुनर्वस्वो,' 'पूर्वयोः फाल्गुनन्योर्यः कामयेत दानकामा शे प्रजारस्युरिति,' 'हस्ते यः कामयेत प्र मे दीयेतेति' (आप० श्रौ० 5-1-33,5,6,7,8,12)।
2. अथर्ववेद (19-7),
3. तै० ब्रा० (3-1-4)।

उत्तराफाल्गुनी	=	भग
हस्त	=	सविता
चित्रा	=	इन्द्र
स्वाति	=	वायु
विशाखा	=	इन्द्राग्नी
अनुराधा	=	मित्र
रेवती	=	इंद्र
विचृति (मूल)	=	पितर
पूर्वा अषाढा	=	विश्वेदेवा
श्रवण	=	विष्णु
श्रविष्ठा	=	वसुगण
शतभिषक्	=	इंद्र
प्रौष्ठपद (1)	=	अजैकपाद
प्रौष्ठपद (2)	=	अहिर्बुघ्न्य
आश्वयुज्	=	अश्विनीकुमार
अपभरण्य	=	यम

ऋग्वेद के अश्वमेधसूक्त (3-86) में सूर्य की 34 पार्श्वास्थियों का उल्लेख है—

चतुस्त्रिंशत् वाजिनो देवबन्धोः ।
वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति ॥

डा० सत्यप्रकाश ने शतपथब्राह्मण की भूमिका में डा० लुडविग का मत उपस्थित किया है कि ये 34 पार्श्वास्थियां 27 नक्षत्र एवं चन्द्रमा, सूर्य मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि ग्रह थे ।[1]

चान्द्र तिथियाँ—आपस्तम्व इत्यादि में यथार्थ पौर्णमासी और अमावस्या पुण्यतम तिथिताँ मानी जाती थी । जिस दिन चन्द्रमा पूर्ण होता था, उसे पौर्णमासी कहते थे—

यदहः पुरस्ताचन्द्रमाः पूर्ण उत्सर्पेन्त्तां पौर्णमासीम् ।[2]

और जिस दिन चन्द्रमा दिखलाई नहीं पड़ता, उसे अमावस्या कहते थे—
यदहर्न दृश्येत तहो अमावस्या ।[3]

खर्विकां तृतीयां 'वाजसनेयिनः समामनन्ति' (आ० श्रौ० 24-2-23) खर्वा पौर्णमासी के तृतीय दिन को कहते थे । निम्नश्लोक में त्रेतायुग का नाम ही खर्वा है—

1. According to Dr Ludwig the thirty four ribs, mentioned in this verse reform the sun, moon, the five planets, Mangal, Budha, Brihspati, Sukra & Shani and twenty Seven Nakshatras (Int. to S.B. p. 612).
2. आ० श्रौ० (24-2-21), (3) आ० श्रौ० (24-2-24)

पुष्पे चानुमतिर्ज्ञेया सिनीवाली तु द्वापरे।

खर्वायां तु भवेद्राका कृतपूर्वे कूहूर्भवेत् ॥

अमावस्या को दर्श और पूर्णमासी को पर्व भी कहा जाता था। पूर्णिमा को अनुमति और राका तथा अमावस्या को सिनीवाली कूहू कहा जाता था—

सिनीवाली कूहूरिति देवपन्त्याविति नैरुक्ताः।

अमावस्येति याज्ञिकाः (निरुक्त 11-31)

कृष्णपक्ष एवं शुक्लपक्ष की अष्टमी रात्रि को अष्टका या एकाष्टका कहते थे, यह भी पुण्यतिथि मानी जाती थी। पूर्णिमा और अमावस्या को पञ्चदशी भी कहा जाता था। अतः चान्द्रमास 30 दिन का होता था।

कृष्णपक्ष को पूर्वपक्ष और शुक्लपक्ष को अपरपक्ष कहा जाता था। पक्षों के नामादि पहिले लिखे जा चुके हैं।

संवत्सर—मास और वर्ष को प्रजापति कहा जाता था—'(प्रजापतिः संवत्सर इति, (तै० बा० 3-10-9)। आपस्तम्ब ने वर्ष के चार नाम कहे हैं—

'चत्वारि संव त्सरनामान्युपदधाति-प्रजापतिः संवत्सरो

महान् क-इति (आ० श्रौ० 19-12-15)।

'प्रजापति, संवत्सर, महान् और क'।

संवत्सर का नाम ही प्रजापति था।

ऋतु—संवत्सर के नाम ऋतुओं के नाम पर भी प्रसिद्ध थे, यथा वर्ष के नाम पर 'शरद्' संवत्सर को ही कहते थे—

जीवेम शरदः शतम्'

जीवेम शतं हिमाः।"

इत्यादि प्रयोग मन्त्रों में मिलते हैं आज संवत्सर को वर्ष (साल) वर्षा ऋतु के कारण ही कहते हैं समा और हिमा शब्द भी संवत्सर के पर्याय थे, संवत्सर में पांच या छः ऋतुयें मानी जाती थी।

पंचवा ऋतवः संवत्सरः (तै० ब्रा० 1-1) हेमन्त और शिशिर को मिलाकर एक ऋतु माना जाता था—द्वादश मासाः पंचर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन।

(ऐ० ब्रा० 1/1)

छः ऋतुओं के नाम थे—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा शरद् हेमन्त और शिशिर। वसन्त से वर्षारम्भ माना जाता था।

मुखं वा एतदृतूनां यद्वसन्तः

वसन्त में यज्ञ करना श्रेष्ठ माना जाता था और नित्ययज्ञ वसन्त में किये जाते थे—वसन्ते-वसन्ते यजेत'

अयन—वर्ष में दो अयन प्रसिद्ध थे—उत्तरायण और दक्षिणायन, इनको देवयान, पितृयाण भी कहते थे—(तस्मादादित्यःषण्मासो दक्षिणनैति षडुत्तरेण

(तै० सं० 6-5-3)

कालमान

(युगपद्धतियां)

प्राचीनकाल में भारत में अनेक युगपद्धतियाँ प्रचलित थीं। वैदिकग्रन्थों में विशेषत. कल्पसूत्रों में पञ्चशारदीय यज्ञ आदि में उनका उपयोग किया जाता था। वैदिकग्रन्थों और इतिहासपुराणों में निम्न युगपद्धतियाँ प्रचलित थी, जिनका भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन में अतीव योगदान रहेगा, अभी तक युगगणना पर विशेष शोध नहीं हुआ है, इन पंक्तियों के लेखक का दृढ़ निश्चय है कि युगसंस्था का पूर्ण संशोधन किया जाय। यहाँ केवल, संक्षेप में इस पर मौलिक विचार किया जा रहा है—

(1) पञ्चसंवत्सरात्मकयुग
(2) षष्टिसंवत्सरयुग
(3) मानुषयुग
(4) दैवयुग
(5) सप्तर्षियुग
(6) परिवर्त या 28 त्रेतायुग (मूल में 30 युग)
(7) चतुर्युग

पञ्चसंवत्सरात्मकयुग—ऋग्वेद में तीन प्रकार की युगसंस्थाओं का उल्लेख मिलता है—

पञ्चसंवत्सरयुग, मानुषयुग और देवयुग। इन पाँचवर्षों के क्रमशः नाम थे – संवत्सर, परिवत्सर इदावत्सर, अनुवत्सर और इदवत्सर। ऋग्वेद (7-10-3-7) मण्डूकसूक्त में संवत्सर और परिवत्सर का उल्लेख है—

संवत्सरस्य तदहः परिषण्ठयन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव।
ब्राह्मणाः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्॥

शुक्लयजुर्वेदसंहिता (30-16) में इन वर्षो से नाम उल्लिखित हैं।

---

1. सिद्धान्तशिरोमणि के टीकाकार मुनीश्वरकृत मरीचिटीका में युगों के नाम हैं—
पञ्चसंवत्सरैरेकं प्रोक्तं लघुयुगं बुधैः।
लघुद्वादशकेनैकं षष्टिरूपं द्वितीयकम्॥
तद्द्वादशमितै प्रोक्तं तृतीयं युगसंज्ञकम्।
युगानां षट्शती तेषां चतुष्पादी कला युगे।
चतुष्पादी कला संज्ञा तदध्यक्षः कलिः स्मृतः॥
इति लगधप्रोक्तत्वात्॥

वेदाङ्गज्योतिष के कर्ता लगधाचार्य ने इस युग का इस प्रकार उल्लेख किया है—

पंचसंवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम् ।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः ।।

वाजसनेयिसंहिता में पञ्चवर्षों के नाम है—

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसि इदावत्सरोसीदवत्सरोऽसि वत्सरोऽसि ।
(वा० सं० 26/43)

संवत्सरस्तु प्रथमो द्वितीयोः परिवत्सरः ।
इदावत्सरस्तृतीयस्तु चतुर्थश्चानुवत्सरः ।
पंचमो वत्सरस्तेषां कालस्तु युगसंज्ञितः ।।

ब्रह्माण्डपुराण में कथित हैं ।

सूर्यप्रज्ञप्ति, कौटिलीयअर्थशास्त्र के समय तक पञ्चवर्षात्मकयुग प्रचलित था ।

आपस्तम्बकल्प में पञ्चाह और पञ्चशारदीय यज्ञ इसी युग के आधार पर कल्पित किये गये ।

षष्टिसंवत्सर—तैत्तिरीयारण्यक के प्रारम्भ में षष्टिसंवत्सर का उल्लेख है । पूर्वोक्त पंचवत्सरात्मक युगों के बारह पंचक मिलकर षष्टिसंवत्सरयुग बनाते थे । वैदिककालगणना में षष्टिसंवत्सरात्मकयुग का प्रचलन था ।

मानुषयुग—वेद और पुराण में मूलगणना मानुषवर्षों के आधार पर ही होती थी । वायुपुराण और ब्रह्माण्डपुराण में स्पष्ट कहा गया है कि दिव्यसंवत्सर मानुषवर्ष में अनुसार ही गिने जाते थे । दिव्य का अर्थ आकाशीय सौरवर्ष से ही था । कुछ वैदिकग्रन्थों के आधार पर, उत्तरकाल में 'दिव्य'शब्द के अर्थ में भ्रम उत्पन्न हुआ, जिससे भारतीय इतिहास पूर्णत अस्पष्ट, कलुषित एवं अज्ञेय सा हो गया । इस सम्बन्ध में तैत्तिरीयसंहिता के ब्राह्मणभाग में एक वाक्य आया है—

"**एकं वा एतद्देवानामहः । यत्संवत्सरः**" ।

ज्योतिषियों और उत्तरकालीन पुराणकारों ने इस वाक्य का सम्बन्ध द्वादशसहस्रात्मकयुग से जोड़कर कृतादियुग को, जो मानुषवर्षों के होते थे, उनकों लाखों करोड़ोंवर्षों का बना दिया जिससे कि वे युग इतिहास की वस्तु न रहकर कल्पना

---

1. त्रीणि वर्षशतान्येव षष्टिवर्षाणि यानि तु ।
दिव्यसंवत्सरोह्येष मानुषेण प्रकीर्तितः ।। (ब्रह्माण्डपुराण 1-2-16)

लोक की गप्प बनकर रह गये। प्राचीनपुराणपाठों में बारम्बार कहा गया है कि—

> तेषां द्वादशसाहस्त्री युगसंख्या प्रकीर्तिता !
> कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चैव चतुष्टयम् ।
> अत्र संवत्सराः सृष्टा मानुषेण प्रमाणतः ।
>
> (ब्रह्माण्डपुराण 1/2/29-30)

चतुर्युगपद्धति का प्राचीनतम उल्लेख मनुस्मृति में मिलता है। उसमें वर्ष गणना मानुषवर्षों के आधार पर ही है. द्वादशसहस्रवर्षात्मकयुग को केवल देवयुग कहा गया है, वहाँ गणना देववर्षों में नहीं हैं। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध ज्योतिषी स्वर्गीय शंकर बालकृष्ण दीक्षित का मत पूर्णतः भ्रामक है और पाश्चात्य लेखक प्रो० ह्विटने का मत सत्य है – (प्रो० ह्विटने कहते हैं कि इन 12000 वर्षों को देववर्ष मानने की कल्पना मनु की नहीं है, इसकी उत्पत्ति मनु के बहु दिनों बाद हुई।" (भारतीय ज्योतिष, पृ० 148), परन्तु श्री बालकृष्ण दीक्षित ने इस भ्रम को जारी 'रखना श्रेयस्कर समझा—'परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं मालूम होता क्योंकि मनु के बहुत पहिले ही इस बात का निश्चय हो चुका था कि देवताओं को दिन मनुष्यदिन से बड़ा होता है। तैत्तिरीयसंहिता के ऊपर लिखे वाक्य में स्पष्ट उल्लेख है कि मनुष्यों का एक संवत्सर (अर्थात् 360 दिन) देवताओं के एक दिन के बराबर होता है।" (भारतीय ज्योतिष, (पृ० 149)। तैत्तिरीयसंहिता के उक्त कथन को मानुषीयुगगणना चतुर्युगपद्धति) से क्यों जोड़ा जाय, यह बुद्धिगम्य नहीं है। प्राचीनग्रन्थों (मनुस्मृति, ब्रह्माण्डपुराणादि) में यह कल्पना है ही नहीं। हाँ उत्तरकाल में यह कल्पना पुराणों में अवश्य घुसेड़ी गई। परन्तु वैदिकप्रमाणों से ही उक्त कल्पना का खण्डन होता है कि युगों की गणना में दिव्य दिन, 360 वर्ष का माना जाय।

अथर्ववेद[1] (8/2/21) के प्रमाण ने पहिले ही लिखा जा चुका है कि चतुर्युग 10000 वर्ष के ही थे। अथर्ववेद, मनुस्मृति[2] और महाभारत आदि प्राचीनग्रन्थों

---

1. "शतं तेऽयुतं हायनान् युगेद्वे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।"
2. चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम् (महाभारत)
   'तदूचिषे मानुषेमा युगानि कीर्तेन्यं मघवानाम बिभ्रत्' (ऋ० 1-103-4)
   'विश्वे ये मानुषा युगाः पान्ति मर्त्यं रिषः। (ऋ० 5-52-4)
   'पर्यन्या नाहुषा युगा' (ऋ० 5-73-3)
   'दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे' (ऋ०1-158-6)

में दिव्यवर्ष की की कोई कल्पना नहीं है, स्पष्ट ही वहाँ मानुषवर्षों का उल्लेख है। प्रो० तिलक ने इस सम्बन्ध में अथर्ववेद और महाभारत के प्रमाण से यही सिद्ध किया और हमारा भी यही दृढ़ मत है—

In other words Manu and Vyasa obviously speak only of a period of 10000 or including the Sandhyas of 12000 ordinary or human (not devine) years, from the beginning of Krita to the end of Kali age, and it is remarkable that in the Atharvaveda. We should find a period of 10000 years apparently assigned to one yuga:"

(The arctic home in the Vedas, p. 350)

अत: दिव्यवर्ष या दिव्ययुग के सम्बन्ध में यह भ्रम मिट जाना चाहिये कि वे मानुषवर्ष से 360 गुणा होते थे, परन्तु परिणाम इसके विपरीत है कि दोनों एक हीं थे। हां, वेदोक्त मानुषयुग और दैवयुग मे जो अन्तर था, उसका स्पष्टीकरण यहाँ करते हैं।

वेद में मानुषयुग का बहुधा उल्लेख मिलता है, परन्तु आज इसका स्पष्ट ज्ञान किसी को नहीं है कि 'मानुषयुग' क्या था, इसका मान क्या था। परन्तु इसके अर्थ का रहस्य 'मानुष' शब्द में ही निहित हैं।'

वेद में ही अनेकश उल्लिखित है कि मनुष्य की आयु 100 वर्ष होती है—

जीवेम शरदः शतम् (यजुर्वेद)
शतायुर्वै पुरुषः (शतपथब्रा० 13-4-1-15)
तस्माच्छतं वर्षाणि पुरुषायुषो भवन्ति (ऐ० आ०)
वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले (चरकसं 6-26)

अत: वेदमन्त्र उल्लिखित मानुषयुग 100 वर्ष होता था जितनी कि मानयायुः होती हैं। इसकी पुष्टि अर्थववेद के पुर्वोद्धृत प्रमाण से भी होती है कि 10000 (दस हजार) वर्षों में 100 युग थे—

100 × 100 = 10000 वर्ष

"शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणिचत्वारि कृण्मः। वैदिकयुगगणना में सर्वप्रथम मानुषयुग और मानुषवर्षों में ही होती थी। अथर्ववेद का उक्त मन्त्र जब रचा गया, जबकि प्रजाप्रति के अनन्तर 100 मानुषयुग अर्थात् दसहजारवर्ष व्यतीत हो गये थे। ऋग्वेद (1-158-6) में चर्चित दीर्घतमा मामतेय दशयुग (मानुषयुग) जीवित रहा, अर्थात् वह दशपुरुषायु या 1000 (एकसहस्र) वर्ष जीवित रहा, शांखायन आरण्यक (2-17) में दशयुग का यही अर्थ है—

"तत उह दीर्घतमा दश पुरुषायुषाणि जिजीव,"

पुरुषायु 100 वर्ष होती है, इस गणना से दीर्घतमा 1000 वर्ष जीवित रहें। दशमयुग में 1000 वर्ष पूरे होते हैं।

अतः वेदोक्त मानुषयुग स्पष्ट हुआ। इतिहास में प्राचीनगणना मानुषयुग में ही होती थी, जैसा कि अथर्ववेद से भी पुष्ट होता है।

देवयुग और दिव्यवर्ष—देव (या दिव्य) शब्द का निर्वचन इस प्रकार है—

देवो दानाद् वा दीपनाद् द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा (निरुक्त 7-15) "दान देने, दीप्त होने से, चमकने, से या द्युलोक में स्थित होने से देव या दिव्य का अर्थ हुआ आकाशीय या चमकीला। वेद में देव प्रायः सूर्य या सविता को कहते हैं वही दिव्य है—

"देवस्य सवितुः प्रातः प्रसवः प्राणः' (तै० ब्रा०)

नक्षत्र सूर्य और ग्रह सभी दिव्य हैं। अत दिव्यवर्ष या देवयुग का अर्थ है सौरवर्ष। ब्रह्माण्डपुराण में स्पष्ट ही कहा है कि 360 वर्ष का सौरवर्ष ही दिव्य वर्ष है—

त्रीणि वर्षशतान्येव षष्टिवषाणि यानि च।
दिव्यः संवत्सरो ह्येष मानुषेण प्रकीर्तितः॥

(ब्र० पु० 1-2-16)

वायुपुराण (99-419) में सप्तर्षियुग के 2700 वर्ष, जो साधारण मानुषवर्ष ही है, उन्हें दिव्यवर्ष कहा गया है—

सप्तर्षीणां युगं ह्येतद्दिव्यया संख्यया स्मृतम्।

पं० भगवद्दत्त ने लिखा है "इस प्रकरण के सब प्रमाणों से मानुष और दिव्य संख्या का स्वल्पसा अन्तर दिखाई पड़ता है।[1]" वस्तुतः मानुष्य और दिव्यवर्ष की गणना में कोई अन्तर (स्वल्प भी) था ही नहीं। अतः दिव्यवर्ष 360 या 365 दिन का होता था।

इसी प्रकार देवयुग का अर्थ था देवों का समय, जबकि वे पृथिवी पर विचरण करते थे। देवयुग का अन्य कोई और अर्थ नहीं। देवपुरुष की आयु वेद या अन्य ग्रन्थों में 300 या 360 या 400 वर्ष मानी जाती थी—मनुस्मृति के अनुसार कृत और त्रेता में पुरुषायु क्रमशः 400 और 300 वर्ष होती थीं—

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः॥

(मनु० स्मृ० 1-83)

---

1. भा० वृ०इ० भाग 1 (पृ० 165)

अत: कृतयुग और त्रेतायुग में पुरुष या उस समय के मनुष्य इन्द्र वरुणादि जो देव कहे जाते थे, उनकी आयु एक देवयुग या परिवर्त (360 वर्ष) को होती थी। देवों की आयु 300 से 360 वर्ष तक होती थी, लाखों करोड़ो वर्ष नहीं, इसका प्रमाण जैमिनीयब्राह्मण (1-3) निम्न वचन में मिलता है—

"प्रजापतिसहस्रसंवत्सरमास्त। स सप्त शतानि वर्षाणां समाप्येमामेव जितिम जयद्यास्येयं जितिं ताम्। स स्वर्गं लोकमारोहत् देवान्नब्रवीदेतानि यूयं त्रीणि शतानि वर्षाणां समापयथेति। तथेति। ते त्रीणि शतानि वर्षाणां समाप्य तामु एव जितिम-जयन्……।" "प्रजापति ने सहस्रसंवत्सर का यज्ञ किया। उसे सात सौ वर्षों में ही इष्ट सिद्धि मिल गई। वह दिवंगत हुआ और देवों से कहा—तुम इसे 300 वर्षों में समाप्त करो। देवों ने तीन सौ वर्षों में इष्टफल को प्राप्त किया।"

देवयुग में वर्ष दस महीने या 300 दिन भी लेता था, इसका प्रमाण वैदिक ग्रन्थों एवं यूरोपिय इतिहास में मिलता है। श्री लोकमान्य तिलक ने उपर्युक्त विषय पर प्रमाण एकत्र करते हुये वैदिकग्रन्थों से प्रमाण दिये हैं तदनुसार पुराकाल में वर्ष 300 दिन का भी होता था।[1]

अतः देवों की आयु 360 वर्ष की होती थी, उसी को वेद तो देवयुग कहा गया है—

"देवानां पूर्वे युगे सतः सदजायत" (ऋ० 10-72-2)
"या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगंपुरा" (ऋ० 10-97-1)
"त्वङ्गिरा दैव्यं मानुषा युगा:" (वा०ज०सं० 12-111)

वेदों के अनन्तर इतिहासपुराणों में 'देवयुग' का बहुधा उल्लेख मिलता है—

पुरा देवयुगे राजन्नादित्यो भगवान् दिवः।[2]
पुरा देवयुगे ब्रह्मन् प्रजापतिसुते शुभे।[3]

---

1. The Encyclopeedia Britanica (S.V. Calendar) records the ancient tradition that the oldest Roman year of Roman was of ten months of 304 days (quoted in the Arctic Home in the Vedas p. 158).

   वैदिक प्रमाण है—
   (क) गावो वै सत्रमासत दशमे मासि शफा: शृङ्गाण्यजायन्त (ऐ० ब्रा०)
   (ख) गावो वा एतत् सत्रमासत···दश मासा निषण्णा आसन्।
   (तै० सं० 7-5-2-1)

2. महाभारत, सभा०(11-1)
3. महा० आदि० 14-5)

जैमिनीय ब्राह्मण (2-75), निरुक्त (12-41) और रामायण (1-9-12) में देवयुग का का उल्लेख है।

पुराणों में द्वादश देव और द्वादश देवासुरसंग्रामों का उल्लेख मिलता है, जो प्राय: दश युग[1] अर्थात् 3000 वर्ष तक लड़े गये प्रत्येक युद्ध का समय लगभग 300 वर्ष था -

'अथ देवासुरंयुद्धमभूद्वर्षशतत्रयम्' (मत्स्यपु० 24-37) इन प्रमाणों भी सिद्ध होता है कि युग, देवयुग या परिवर्त 300 या 360 वर्ष का होता था। ऐसे प्रत्येकयुग में एक व्यास का अवतार हुआ, ऐसे 28 व्यास 28 युगों में हुये,

पं० भगवद्दत्त ने देवयुग, युग आदि की अवधि जानने में असमर्थता व्यक्त की हैं—'यदि अवान्तर त्रेताओं की अवधि तथा आदियुग, देवयुग और त्रेतायुग आदि की अवधि जान ली जाय, तो भारतीय इतिहास का सारा कालक्रम शीघ्र निश्चित हो सकता है।"

अट्ठाईस युगों और चतुर्युग का सामंजस्य—अतः दिव्य संवत्सर या देवयुग देवयुग 360 वर्ष का होता था—

त्रीणि वर्षशतान्येव षष्टि वर्षाणि यानि तु।

दिव्यः संवत्सरो ह्येष मानुषेण प्रकीर्तितः॥

(ब्र० पु० 1-2-16)

प्राचीनकाल अर्थात् चतुर्युग की कल्पना से पूर्व ऐतिहासिक वैदिकगणना इसी दैवयुग या पूर्वोक्त शतसंवत्सरात्मक मानुषयुग में होती थी। 28 परिवर्तो (युगों) का चतुर्युगीगणना से पूर्ण सामंजस्य हैं, इसविवेचन से पूर्व यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि चतुर्युग की कृतादि संज्ञायें कब और कैसे प्रादुर्भूत हुई, इसका रहस्य वैदिकग्रन्थों से ज्ञात करेंगें।

वैदिक ग्रन्थों में कृतादिसंज्ञाओं का उल्लेख द्यूत के प्रसंग में बहुधा उल्लिखित है—

(1) कृताय आदिनवदर्शं, त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधिकल्पनमास्कन्दाय सभास्थाणुम्" (वाजसं० 30-18)।

(2) कृताय सभाविनं। त्रेतायै आदिनवदर्शम्। द्वापराय बहिःसदम्। कलये सभास्थाणुम्। तै. सं.

सभावी, आदिनवदर्श' बहिःसद् और सभास्थाणु ये द्यूतसभा के सदस्य होते थे। पुरुषमेध के प्रसङ्ग में इन चार कितवों का आलम्भनहेतु विधान था। यद्यपि

---

1. युगं वैदश (वायु पु० 9-70)

पुरुषमेध में किसी पुरुष का वध नहीं होता था, परन्तु अनेकविध पुरुषों का संग्रह किया जाता था।

ऐतरेब्राह्मण में कर्त्तव्यबोध हेतु चतुर्युग का उल्लेख है—

कलिः शयानो भवति संञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यतेचरन्॥
(ऐ॰ 33-15)

चान्द्रतिथियों के प्रसङ्ग में षड्विंशब्राह्मण में चार युगों का उल्लेख कालमान के रूप में हुआ है—

पुष्ये चानुमतिर्ज्ञेया सिनीवाली तु द्वापरे।
खर्वायां तु भवेद्राका कृतपूर्वे कुहूर्भवेत्॥ (5-6-5)

"पुष्ये (कलि) में अनुमति श्रेष्ठ है, द्वापर में सिनीवाली, खर्वा (त्रेता) में राका और कृतयुग में कुहू प्रशस्ता है।"

वैदिकप्रथा में राजा, राजसूय, द्यूत और काल का घनिष्ठ मान्य था। राजसूययज्ञ राज्याभिषेक का अनिवार्य कृत्य या कर्त्तव्य था। इसी यज्ञ से राजा उत्पन्न (सूयते) या बनता था, इसलिये राजसूय में सारस्वत आदि[1] 18 प्रकार के जलों से अभिषेक करने के अनन्तर सूयमान राजा अक्षावाप की सहायता से द्यूत खेलता था। सूत्रग्रन्थों में पञ्चाक्षिकद्यूत का प्रचलन था। द्यूत के पांच अक्षों के नाम कृतादि थे, पञ्चम अक्ष कलि[2] कहा जाता था। अतःकृत, त्रेता, द्वापर और कलि ये द्यूताक्षों के नाम थे, द्यूत का राजा से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

राजा ही काल या समय का निर्माता कहा गया है—महाभारत (शान्तिपर्व, 69 अध्याय) में राजा को युगों का निर्माता या प्रवर्तक कहा है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माभूत् राजाकालस्य कारणम्
दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक्कात्स्न्येन वर्तते
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्तते॥80॥
दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्तते।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते॥87॥
अर्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यधर्ममनुवर्तते।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः संप्रवर्तते॥89॥
दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कात्स्न्येन भूमिपः।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तेत तदा कलिः॥91॥

---

1. आ॰ श्रौ (18-13-1-18)
2. अथ ये पञ्चः कलिः सः (तै॰ ब्रा॰ 1-5-11)।

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥14॥

उपर्युक्त उद्धरण को उद्धृत करने का तात्पर्य यह प्रदर्शित करना है कि युग-प्रवर्तन में राजा की नीति और धर्मव्यवस्था का ही प्रमुख योगदान होता था और आज भी होता है।

यज्ञों में द्यूत का प्रवेश और ऐतिहासिक गणना में कृतादि संज्ञाओं का प्रचलन कब से हुआ, यह समय ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है, परन्तु अनुमान है कि यह राजा नल और अयोध्यापति ऋतुपर्ण के समय यज्ञों के समय यज्ञों में द्यूत एक घनिष्ठ एवं अनिवार्य अंग हो गया था, प्रतीत होता है कि इसीलिये दिव्याक्षहृदय ऋतुपर्ण की गाथायें यज्ञ में गाई जाती थी—आपस्तम्ब ने लिखा है—

भङ्ग्याश्रयो गाय यो राजानपरोध्यः।
यमं गाय भङ्गाश्रयो यो राजानपरोध्यः। । (आ० श्रौ० 16-6-4)

वौधायनने भी अपने श्रौतसूत्र (18-13) में ऋतुपर्ण का श्रद्धा से उल्लेख किया है—'तेन हैतेन ऋतुपर्णो भाङ्गश्वीन ईजे शफलानां राजा।" ऋतुपर्ण इक्ष्वाकु की 50 वीं पीढ़ी में हुआ। अतः चतुर्युगीगणनापद्धति महाभारतकाल से एकाध सहस्राब्दी पूर्व ही प्रचलित हुई. इससे प्राचीनतर युगगणना परिवर्तगणना थी, जिसका पुराणों के प्राचीनपाठों में उल्लेख मिलता है।[1] इस परिवर्त को भ्रमवश, पुराणों में ही त्रेतायुग या द्वापर भी कहा है। मूल में यह नाम परिवर्त या युग ही था। दाशरथिराम, चौबीसवें युग में हुये—

चतुर्विंशे युगे चापि विश्वामित्रपुरस्सरः।
लोके राम इति स्यातस्तेजसा भास्करोपमः॥
(हरिवंशपुराण)

पुराणों, में जिन 28 युगों या परिवर्तों का उल्लेख है, उनमें प्रत्येक युग 360 वर्ष का था, इसी से यह भ्रामक गणना, पुराणों में कल्पित को गई कि देवताओं का एक युग, मनुष्यों के 360 वर्षों के तुल्य है। 28 युगों का मान $(360 \times 28) =$ 10080 वर्ष होता है यह काल चतुर्युग के कालपरिमाण के प्रायः तुल्य हो है। मूल में यह सौ मानुषयुग $(100 \times 100) =$ कृत, त्रेता, द्वापर, कलि[2] के 10000 वर्षों (दससहस्र) के तुल्य थे—

---

1. परिवर्तेऽथनवमे व्यासः सारस्वतो यदा।
परिवर्ते त्रयोविंशे तृणविन्दुर्यदा मुनिः॥ (वायुपुराण)
1. चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्॥
तथा त्रीणि सहस्राणि त्रेतायां मनुजाधिप-द्विसहस्रं द्वापरे॥ (भीष्मपर्व)

शतं तेऽयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणिचत्वारि क्रण्मः (8-2-21) यह अथर्ववेद में स्पष्ट ही युगगणना लिखी है। इसी को मनुस्मृति में चतुर्युग के कालपरिमाण के प्रसङ्ग में अन्यथा प्रकार से कहा है।[1]

कृतयुग=4000 वर्ष, त्रेतायुग=3000 वर्ष, द्वापर युग=2000 वर्ष और कलियुग=1000 वर्ष का था इनमें क्रमशः सन्ध्यांश जोड़ने पर क्रमश: कृत=4800 वर्ष, त्रेता=3600 वर्ष, द्वापर=2400 और कलि=1200 वर्ष होता था। चारों युगों का कुल परिमाण 12000 वर्ष का था। इसको एक देवयुग भी कहते थे। इसको देवयुग बनाने के लिये 360 ने गुणा करने की आनश्यकता नहीं थी, अथर्ववेद के प्रमाण से ज्ञात होता है कि मानुषयुग और देवयुग के चतुर्थीकरण की प्रथा अत्यन्त प्राचीन थी, यद्यपि इसका ठीक समय ज्ञात नहीं, परन्तु यह भारतयुद्ध से बहुत पूर्व का था।

सप्तर्षियुग—2700 नर्षों का सप्तर्षियुग या संवत्सर प्राचीनपुराणों में उल्लिखित है। सप्तर्षिमण्डल 27 नक्षत्रों में क्रमश: 100-100 वर्ष ठहरते हैं, इस गणना से 2700 वर्षों का एक युग होता था।[2]

एक मत के अनुसार सप्तर्षियुग 3030 वर्षों का होता था—

त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः।
त्रिंशद्यानि मतः सप्तर्षिवत्सरः ॥[3]

ब्रह्माण्ड और वायुपुराण के अनुसार शन्तनुपिता प्रतीप के राज्यकाल से लेकर आन्ध्र सातवाहनवंश के प्रारम्भ होने से पूर्वतक एक सप्तर्षियुग पूरा हुआ था—

सप्तर्षयस्तदा प्राहुः प्रतीपे राज्ञि वै शतम्।
सप्तविंशैः शतैर्भाव्या आन्ध्राणान्तेऽन्वयःपुनः।[3]

1. चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती संध्यांशश्च तथाविधः।
इतरेषु संसध्येषु संध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च।
यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमच्यते ॥ (म० स्मृ० 1-6-9)
2. सप्तविंशतिपर्यन्ते कृत्स्ने नक्षत्रमण्डने।
सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम्।
सप्तर्षीणां युगं ह्येतद्दिव्यया संख्यया स्मृतम् ॥ (वायु० 99-4-9)
इन 2700 मानुषवर्षों को ही यहाँ दिव्यवर्ष गया है, यह द्रष्टव्य है।
3. ब्रह्माण्डपुराण (1-2-17); ब्र० पु० (3-74-230)

प्रतीप के राज्य से आरम्भ होकर आन्ध्रों के प्रारम्भ के समय तक एक सप्त-षियुग अर्थात् 2700 वर्ष पूरे हुये।

उपर्युक्त प्रमाण से सिद्ध होता है कि ऐतिहासिकगणना सप्तर्षिसंवत्सर या युग में भी होती थी। सप्तर्षियों का एक नक्षत्र में निवास एक मानुषयुग (100 वर्ष) के बराबर था, सप्तर्षियुग और मानुषयुग दोनों ही वेदसम्मत थे।

दक्ष प्रजापति से युधिष्ठिरपर्यन्त 100 मानुषयुग, या 3 सप्तर्षियुग या 10000 (दससहस्र) वर्ष व्यतीत हुये थे, इसकी पुष्टि, अथर्ववेद (8-2-21) के साथ महा-भारत, उद्योगपर्व (17-15) के अनुसार नहुष दशसहस्र वर्ष सर्पयोनि में रहे—

दशवर्ष सहस्राणि सर्परूपधरो महान्।
विचरिष्यसि पूर्णेषु पुनः स्वर्गमवाप्स्यसि॥

अतः नहुष से युधिष्ठरपर्यन्त दशसहस्रवर्ष का अन्तर था। ययाति का पिता नहुष प्रजापति प्रचेता से नौवां और दक्ष से आठवीं पीढ़ी में हुआ था।[1] अतः प्रजा-पति और नहुष में लगभग एक सहस्राब्दी का अन्तर था।

ध्रुवसंवत्सर— पुराणों में 9090 या तीन सप्तर्षियुगों के बराबर ध्रुवयुग बताया गया है—

नवयानि सहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि च।
अन्यानि नवतिश्चैव ध्रुवः संवत्सरः: स्मृतः॥[2]

उपर्युक्त सभी युग मानुष, देवयुग, चतुर्युग, सप्तर्षियुग, ध्रुवयुग मानुष वर्षों में ही गिने गये हैं। दिव्यवर्ष मानुषवर्ष का मान एक समान था। पुराणों में 360 वर्ष से गुणा करने की प्रवृत्ति बाद में कल्पित की गई। अथर्ववेद, मनुस्मृति, महाभारत और पुराणों के प्राचीनपाठों में इस कल्पना का सर्वथा अभाव है पुराणों में बारम्बार कहा गया है कि चतुर्युगों की गणना मानुषवर्षों में ही है—

तेषां द्वादशसाहस्री युगसंख्या प्रकीर्तिता।
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चैव चतुष्टयम्॥
अत्र संवत्सराः सृष्टा मानुषेण प्रमाणतः॥[3]

---

1. ययातिः पूर्वजोऽस्माकंदशमो यः प्रजापतेः (आदिपर्व 71-1)
2. ब्र० पु० (1-2-18)
3. ब्र० पु० (1-2-29-30)

यहां तक कि आर्यभट्ट के समयपर्यन्त युगपाद 1200 वर्ष के और बराबर माने जाते थे—

षष्ट्यब्दानां षष्टिश्च व्यतीतास्त्रयश्च युगपादा अधिकाश्च विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः ॥ आर्यभटीय, कालक्रियापाद

— ० —

अध्याय-षष्ठ

आपस्तम्बशुल्ब या ज्यामितीयगणित

आपस्तम्बकल्प का अन्तिम और तीसवाँ प्रश्न शुल्बसूत्र है। आपस्तम्बशुल्ब के अतिरिक्त कात्यायन, बौधायन आदि के शुल्बसूत्र प्रकाशित हैं। इन सभी शुल्ब सूत्रों में यज्ञवेदियों के निर्माण के नियम एवं विधान, विशेषत: मापने की विधियाँ दी हुई हैं। इस कारण, इनमें ज्यामिति का प्राय: सम्पूर्ण विषय रेखा, त्रिभुज, चतुर्भुज, वृत्तादि प्रमेय आदि आ गया है। शुल्बसूत्रों से पूर्व शतपथब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मणादि में उपर्युक्त विषय यत्र तत्र मिलते हैं। इन सभी ग्रन्थों के प्रमाण से प्राचीन भारतीय (किंवा विश्व के प्राचीनतम) ज्यामितीयगणित का संक्षेप में विवरण उपस्थापित करते हैं, जिससे अनुसंधित्सु, जिज्ञासु एवं अन्य पाठक लाभान्वित होंगे।

मान –आपस्तम्बादि शुल्बसूत्रों में मानव अङ्गुलि को मापने का मूलाधार माना गया और प्राचीनभारत में रथ, परिवहन एवं जीवननिर्वाह का प्रधान उपकरण था। अत: मानव अङ्गों एवं रथाङ्गों के आधार पर मान तथा परिमाण निश्चित किये गये—

14 अणु	=	1 तिल
34 तिल	=	1 अङ्गुलि
10 अङ्गुलि	=	1 क्षुद्रपाद
12 अंगुलि	=	1 प्रादेश या व्याम
13 अंगुलि	=	1 पृथ=उत्तर युग=वितस्ति
15 अंगुलि	=	1 पाद
24 अंगुलि	=	1 अरत्नि=2 प्रादेश
32 अंगुलि	=	1 जानु
36 अंगुलि	=	1 शम्या=बाहु
30 अंगुलि	=	1 प्रक्रम
86 अंगुलि	=	1 युग (रथाङ्ग)

104 अंगुलि	=	1 अक्ष (रथांग)
120 अंगुलि	=	1 पुरुष (की ऊँचाई) = व्याम

रेखा—यह शब्द लिख या रिख धातु से निष्पन्न है, यह धातु ऋग्वेद के पूषादि-सूक्तों में 'आरिख' आदि शब्दों में दृष्टिगोचर होती हैं, इस धातु से रेखा, लेखा एवं लिपि शब्द बने हैं, जो लेखन या रेखाङ्कन के मूलाधार हैं। अतः रेखागणित (ज्यामिति) और लिपि (ब्राह्मीलिपि) का प्रादुर्भाव ऋग्वेद से पूर्व अथवा ब्रह्मा के समय से ही भारतवर्ष में था, इस लिखित वाणी को ऋषिगण देखते थे—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत
त्वः श्रण्वन्न श्रुणोत्येनाम् ।। (ऋ० 10-71-14)

वाग्दर्शन का अर्थ था पढ़ना, और यह पढ़ना लिपि (लेखन) का ही सकता है।

रेखा (लेखा) शब्द ज्यामिति में अंग्रेजी शब्द लाइन (Line) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सरलरेखा को शुल्वसूत्रों में ऋजुलेखा कहा गया है। वक्ररेखा को तिर्यङ्रेखा कहा जाता था। आपस्तम्बकल्प सावित्रचयनाद्य के प्रसङ्ग में 'लेखा' का बहुधा उल्लेख है। अतः पं० सुधाकर द्विवेदी का यह मत[1] कि 'लेखा' शब्द बौद्धकाल में ही प्रचलित हुआ सर्वथा भ्रामक है। वैदिकग्रन्थों में 'लेखा' या 'रेखा' शब्द बाहुल्यरूप में मिलता है, अतः रेखाङ्कन, (ज्यामिति) लेखाकर्म. लेखापुस्तक, इत्यादि लिपि का प्रयोग भारत में मनुपूर्व (आदिकाल) से ही चला आ रहा है।

शुल्बसूत्रों में निम्न शब्द पर्यायवाची हैं रेखा, लेखा, रज्जु शुल्व, और करणी।

रज्जु—वेदी नापने की रस्सी को रज्जु या शुल्व कहते थे। इसी नाम से ज्यामिति को शुल्व या रज्जुगणित रज्जुप्रमाण कहा गया है।[2] रज्जु से ही वृत्त (मण्डल), रेखा आदि खींचे जाते थे। यह शुल्वरज्जु मूँज, शण, या कुशवल्वजों की बनाई जाती थी। कात्यायन ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

अजीर्णाग्रथिनी सूक्ष्मा समा श्लक्ष्णा त्वरोमशा ।
रज्जुनाधिका कार्या अध्वरे योगमिच्छता ।
रज्जुर्मुंजमयी कार्याशणैस्तु परिमिश्रिता ।
कात्यायनो वदत्येवमखोडा कुशबल्वजैः ।।

---

1. द्र० गणित का इतिहास, पृ० 6
2. रज्जुप्रमाणं वक्ष्यामः (का० श्रौ० 11-11)

अजीर्ण, ग्रन्थिनी रहित, सूक्ष्मा, समा, चिकनी, और अच्छे वाल (रोम) होने चाहिये। रज्जु मूंज या सन या कुश मिश्रित बनाई जाय और अखंड हो। यह कात्यायन का मत है।"

शुल्बसूत्रों में रज्जु के 5 भेद कथित हैं—

(1) करणी।

(2) तत्करणी (द्विकरणी त्रिकरणी इत्यादि)।

(3) तिर्यङ्मानी।

(4) पार्श्वमानी।

(5) अक्ष्णया।

जिस क्षेत्र को रज्जु द्वारा निष्पादन या मापन किया जाता है, इसलिये उसे 'करणी कहा जाता था। उनके द्वारा क्षेत्र को द्विगुण या चतुर्गुण किया जाता था अतः उसको तत्करणी या (द्विकरणी इत्यादि) कहा जाता था। मध्यरज्जु, जिसके द्वारा रेखा अन्तों को नापा जाता था, उसे तिर्यङ्मानी कहते थे। यह तिर्यङ्मानी एक पद परिमितया द्वादशाङ्गुल होती थी, पार्श्वमानी तीन पाद के बरावर और अक्ष्णया इससे कुछ और बड़ी होती थी।

कोण—वेदिनिर्माण के प्रसङ्ग में आपस्तम्ब ने कोण, त्रिभुज, चतुर्भुज, आयत, वृत्तादि के निर्माण की विधियां बताई हूं। शुल्वसूत्रों में कोण को 'अस्र'[1] कहा जाता था। कोण शब्द या सर्वप्रथम प्रयोग अथर्व परिशिष्ट (21-1) में मिलता है—चतुरस्रं चतुष्कोणं तुल्यं सूत्रेण धारयेत्, कोण को हीं कर्ण कहते थे।

आजकल समकोण त्रिभुज में दो लम्बे रेखाओं को मिलने वाली भुजा (रेखा) को 'कर्ण' कहते हैं, शुल्वसूत्र में कर्ण के अर्थ में अक्ष्णया पद आया है—आपस्तम्ब शुल्वसूत्र के व्याख्याता करविन्द गे लिखा है—"कोणवाची कोणगता रज्जुरक्ष्णयारज्जुः कर्णरज्जुरित्यर्थः।"

पाइथागोरसप्रमेय—प्रसिद्ध यूनानी गणितज्ञ पाइथागोरस के नाम से प्रसिद्ध प्रमेय कि 'त्रिभुज या आयत की दोनों भुजाओं के वर्ग का योग कर्ण के वर्ग के वरावर होता है। इस प्रमेय का उल्लेख तैत्तिरीयसंहिता (6-2-4-5) तथा शतपथ ब्राह्मण (10-2-3-4) में मिलता है। आपस्तम्ब और बौधायन के शुल्वसूत्रों में इसका इस प्रकार उल्लेख है—

"दीर्घस्याक्ष्णया रज्जुः पार्श्वमानी तिर्यङ्मानी च यत्पृथग्भूते
कुरुतस्तदुभयं करोति" (आ० शु० सू०) **बौ० सु० 1-48**

स्रक्ति—वैदिकग्रन्थों में कोण के अर्थ में स्रक्ति और अश्रि शब्द प्रयुक्त हुये है, यथा चतुष्कोण को चतुःस्रक्ति और चतुरश्रि कहते थे।

1. अरत्निमात्रं चतुरश्रं विहृत्य स्रक्तिषु (आ० शु० पृ० 107)
"स्रक्तिषु कोणेषु' इति व्याख्या।

चतुर्भुज और आयत—चार भुजाओं वाले क्षेत्र को आयत या चतुर्भुज या समचतुरस्त्र कहा जाता था। आयत और दीर्घ शब्द समानार्थक हैं अतः शुल्वसूत्र में उसको दीर्घ चतुरस्त्र या केवल दीर्घ भी कहा है।

दीर्घचतुरस्त्रं चिकीर्षन् (बौ. शु. 1-36)
दीर्घस्याक्ष्ण्या रज्जुः (आ० शु०)

वृत्त—गोल घेरे को वृत्त कहते हैं, वेद में इसके लिये परिमंडल या मंडल शब्द आया हैं। सभी आकाशीय पिण्ड परिमंडलाकार है, ऐसा वैदिकग्रन्थों में उल्लेख है।

आपस्तम्बादि ने मंडल या वृत बनाने की विधि शुल्वसूत्रों में लिखी है—'चतुरस्त्रं मंडलं चिकीर्षन्'। इसको 'समाधि' भी कहा जाता था।

(द्र० का० शु०-3-13)

ब्राह्मणग्रन्थों और शुल्वसूत्रों में दीर्घवृत्त को ही परिमंडल कहा जाता था और इसको दीर्घचतुरस्त्र भी कहते थे।

प्रउग—वेद में यह सन्धिहीन प्रउग शब्द त्रिभुज या त्रिकोण के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है—

'प्रउगं चतुरस्त्रं चिकीर्षन् मध्ये प्राञ्चमपच्छिद्य (आ. शु)

एतेनैव त्रिकर्णसमासो व्याख्यातः।

पञ्चकर्णानां च प्रउगेऽपच्छिद्य (का. शु. 4-9)।

मूल में प्रउग शब्द एक रथाङ्ग था, जो कि रथ के अग्र भाग में त्रिकोणात्मक डण्डियां होती थीं, तथा युग (जूये) के आगे लगाई जी थीं।

व्यास—आ० शुल्वसूत्र में व्यास को विष्कम्भ[1] कहा गया है। व्यास का अर्थ विस्तार ही होता था इसीलिये वेदविस्तारक सम्पादकों को 'व्यास' की पदवी मिली। आपस्तम्वशुल्वसूत्र (7-12) में व्यायाम शब्द भी इसी अर्थ में आया है। यहां अर्धव्यास को अर्धव्यायाम कहा है। उत्तरकाल में ज्यामिति में अर्धव्यास को त्रिज्या कहने लगे।

विस्तार या चौड़ाई के अर्थ में बौधायन ने 'व्यास' शब्द का प्रयोग किया है—

1. विष्कम्भान्तयोः शङ्कू विहन्यात्।

'प्राग्वंशः षोडशप्रक्रमायामो द्वादशव्यासो अपि
वा द्वादशप्रक्रमायामो दशव्यासः (बौ, शु. 1-88)

नाभि या मध्य—शुल्वसूत्रों में केन्द्र को मध्य कहा है, जिसके लिये प्राचीन वैदिकसंज्ञा नाभि[1] थी। सर्वप्रथम वराहमिहिर (विक्रमसमकालीन) ने मध्य अर्थ में केन्द्र शब्द का प्रयोग किया। शुल्वसूत्र में केतु या नाभि के अर्थ में 'मध्य' शब्द ही मिलता है—'मध्ये शंकुं विहन्ति' (आ० शु०)

परिधि—वेद में काष्ठखंड को परिधि कहा गया है तथा चारों ओर के घेरे (वृत्त) को भी परिधि कहा गया है। चक्र की परिधि का उल्लेख द्रष्टव्य है—

"द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम् ।" (ऋग्वेद 5-51-)

शंकु—शुल्व या रज्जु के साथ वेदिमापन में शंकु का प्रयोग अनिवार्य था। नोकदार और गोल कील को शंकु कहा जाता था। परन्तु शुल्वसूत्रों में काष्ठ के शंकु के प्रयोग का विधान था, जो खादिरवृक्ष के काष्ठ से निर्मित किया जाता था—

एकतक्ष ऋजुस्तीक्ष्णः खादिरः सम आयतः ।
शंकुः कार्यस्तु शूल्बज्ञैस्तस्यार्धं गमयेन्महीम् ॥

"एक किनारे पर छीला हुआ सीधा और पैना खादिर, समायाताकार शंकु शुल्वज्ञों को बनाना चाहिये, उसके आधे भाग को भूमि में गाड़ना चाहिये।"

यज्ञवेदीनिर्माण के हेतु भूमि पर विन्दु लगाने के लिये शंकुचिह्न लगाये जाते थे। हविर्याग में यह शंकु प्रादेशमात्र (द्वादशाङ्गुल) होता था।

मुद्गर—भूमि में शंकु ठोकने के लिये एक मुद्गर (मुद्गल) का निर्माण किया किया जाता था, जो कि काष्ठ से निर्मित होता है था—

चतुरस्रं मुद्गरं तत्षोडशांगुलमायतम् ।
द्विवितस्तिप्रमाणस्तु खादिरो मुद्गरस्तथा ।
शंकुस्तेन निखातव्यस्तन्मात्रस्य परिग्रहः ॥ (का० शु०)

वेदी के विभिन्न प्रकार अग्निचयन की वेदियां निम्न प्रकार की बनाई जाती थी द्रोणाकार रथकार, चक्रकार, कंकाकार, प्रउगाकार)। द्रोणचित् की वेदी आयताकार होती थी। रथचक्रचित्वेदी वृत्ताकारहोती थी। कंक (चील) पक्षी के आकार की चिति कंकचित् कही जाती थी, त्रिकोणात्मक वेदी को प्रउगचित् कहा जाता था।[2]

वैसे अग्निचयन की वेदी शतविध होती थीं यह श्रौतसूत्र प्रकरण में बताया जायेगा।

---

1. कोऽस्य वेद भुवनस्य नाभिम् (यजु० 23-59)
2. द्रोणाचिद्रथचितकंकचितप्रउगचिदुभयतः: प्रउगः समुह्यपुरीष इत्यग्नयः ।
(का० श्रौ० 4-1)

सप्तम—अध्याय

आपस्तम्बकालीन संस्कृति

भौगोलिक स्थिति—ब्राह्मणग्रन्थों, और कल्पसूत्रों का निर्माणकाल भारतयुद्ध के आसपास ही था। आपस्तम्ब को हम सूत्रकारों का प्रतिनिधि कह सकते हैं। अतः वाङ्मय में वर्णित भारतवर्ष की तत्कालीन स्थिति का संक्षिप्त विवरण, यहाँ जिज्ञासा-शमनार्थ, प्रस्तुत किया जाता है।

ऐतरेयब्राह्मण 18-3-3, में भारतवर्ष के पाँच विभागों का उल्लेख है—प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य, मध्यदेश और दक्षिण।

प्राच्य जनपद

प्राच्य प्रदेश में निम्न जनपद प्रमुख थे—अङ्ग, वङ्ग, सुह्म, सूरमस पुण्ड्र, विदेह, मगध, करूष, दशार्ण, निषध इत्यादि।

अंग—अथर्ववेद में इस जनपद का उल्लेख है। वर्तमान भागलपुर के आसपास का प्रदेश अङ्ग जनपद था। महाभारतकाल में अधिरथ और कर्ण अङ्ग के शासक थे, राजधानी चम्पावती थी, जिसका पुराणों एवं जातकों में बहुधा उल्लेख मिलता है।

वंग—यह वर्तमान वङ्गाल का कुछ भाग था, इसके निकटवर्ती ही पुण्ड्र, सुह्म और ताम्रलिप्तक जनपद थे। पुण्ड्रादि जातियों को विश्वामित्र कौशिक की सन्तान बताया है।[1]

कलिंग—आपस्तम्बश्रौतसूत्र (226-18) में गन्धार आदि के साथ कलिंग जनपद का उल्लेख मिलता है। इस जनपद को अपवित्र जनपदों में सम्मिलित किया जाता था। वर्तमान उड़ीसा का ही यह प्राचीन नाम था। कलिंग के साथ उत्कल जनपद सम्मिलित था।

विदेह—उत्तरवैदिकसाहित्य मे सर्वाधिक उल्लेख विदेहजनपद का ही मिलता है। शतपथब्राह्मण में विदेघ माथव आख्यान मिलता है, यहाँ पर सदानीरा (घाघरा) नदी को कोसल विदेह की सीमा बताया गया है—सैषाएर्तहि कोसलविदेहानां मर्यादा" (श० ब्रा० 1-3-3-19)। वैदहेजनकराजागण प्रसिद्ध अध्यात्मवादी राजर्षि थे, बृहदारण्यकोषनिषद् आदि में वैदेह जनक और वाजसनेययाज्ञवल्क्य के

---

1. ते एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः, पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो भवन्तीति (ऐ० ब्रा० 7-3-9)

आत्मज्ञानसम्बन्धीसंवाद प्रसिद्ध है ।[1]

बिहार में वर्तमान तिरहुत प्राचीन विदेह जनपद था, इसकी राजधानी मिथिला थी ।

उदीच्य प्रदेश

ऐतरेयब्राह्मण में उदीच्य भारत के उत्तरकुरु और उत्तरमद्रजनपदों का .ख भी मिलता है, जो कि वर्तमान ईरान का प्राचीन मीडिया (मद्र) और रूस में (साइबेरिया) देश थे ।

काम्बोज बाह्लीक, गान्धार, मद्र और कपिश—महाभारत में गान्धारों के साथ बोजों का बहुधा युग्म उल्लेख किया है, जिसमें 'शव' शब्द गत्यर्थक था । ईरान वदख्शाँ प्रदेश ही प्राचीन काम्बोज था । यहां के कम्बल प्रसिद्ध थे । काम्बोज के ट ही बाह्लीक जनपद था, जो शन्तनु के भ्राता प्रातीप बाह्लीक के नाम से प्रसिद्ध था । इसको मध्यकाल में बैक्ट्रिया कहते थे । अफगानिस्तान का अधिकांश भूभाग धार जनपद था । अफगान का मूल नाम अपगण था । आपस्तम्ब ने (आ० श्रौ० -6-18) में गान्धार का 'गन्धारि' नाम से उल्लेख किया है। इतिहासपुराणों में धार' या 'गान्धार' पाठ मिलता है, परन्तु प्राचीन नाम गन्धारि' ही था जैसा कि स्तम्ब के समान ऋग्वेद (1-126-7) में गान्धारीणामिवाविका' ऋगंश में यही । मिलता है । ययाति के पुत्र द्रुहयु के वंशज ही गान्धार क्षत्रिय थे, जो भारतवर्ष निकलकर उत्तर (उदीच्य) जनपदों में बस गये । यूनानियों की एक शाखा डेरियस् द्रुह्य क्षत्रिय ही थे स्वयं यूनानियों का 'आयोनियन' नाम 'अनु' के नाम से सिद्ध । अतः ईरान और यूनान की प्राचीन जातियाँ द्रुह्यु और अनु के वंशज थीं ।

रामायणकाल—त्रेतान्त में दाशरथिभरतपुत्र तक्ष और पुष्कल ने गान्धार तक्षशिला और पुष्कलावती नगरियां वसाई, इनमें तक्षशिला जनपद की राजधानी ।

कपिश जनपद का कापिशेय मधु—(शराब) पाणिनि और चाणक्य के समय सेद्ध थी, जिसका उल्लेख, अष्टाध्यायी और अर्थशास्त्र में मिलता है ।

आपस्तम्ब ने जिस कारस्कर या पारस्कर जनपद का उल्लेख किया है, वह वाहीक जनपद था । शतपथब्राह्मण (1-7-3-8) में वाहीकों का उल्लेख मिलता , जहाँ रुद्र की 'भव' नाम से पूजा होती थी ।

कर्णपर्व (महाभारत) में बाहीक देश[2] की सभ्यता और संस्कृति का पर्याप्त विस्तृत

---

1. जनक की घोषणा थी—प्रदीप्तायां मिथिलायां न मे दह्यति किंचन "मिथिला के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जलता ।"
1. ये जनपद वाहीक थे—कारस्करान् माहिषकान् कारकुण्डा केरलाँ तथा ककीटकान् वीरकांश्च दुर्धर्मांश्च विवर्जयेत् । प्रस्थला मद्रगान्धारा आरट्टा नामतः खशाः । वसातिसिन्धुसौवीरा इति प्रायोऽतिकुत्सिताः ।। कर्णपर्व (44-43,4)

वर्णन मिलता है। मद्र जनपद भी वाहीकों में सम्मिलित था। यह वर्तमान पञ्जाब अफगानिस्तान और ईरान का विशाल भूभाग था। इन जनपदों के आचार-विचार महाभारतकाल में अत्यन्त निंदित माने जाते थे। कर्ण ने शल्य के सम्मुख वाहीकों की घोर निन्दा की थी—वाहीकों को वहि और हीक नाम के दो पिशाचों की सन्तान बताया है ये प्रजापति (मनु) की सन्तान नहीं थे—

बहिश्च नाम हीकश्च विपाशायां पिशाचकौ।
तयोरपत्यं बाहीका नैषा सृष्टिः प्रजापतेः॥ (कर्ण० 44-42)

विपाशा (व्यास) नदी के उत्तर में रहनेवाले पञ्चनदवासी ही बाहीक थे—

बाहीकदेशं मद्रांश्च कुत्सयन् वाक्यमब्रवीत्।
बहिष्कृता हिमवता गंगया च बहिष्कृताः।
सरस्वत्या यमुनया कुरुक्षेत्रेण चापि ये।
तान् धर्मबाह्यानशुचीन् बाहीकानपि वर्जयेत्॥[1]

पञ्जाव के साथ सिन्धदेश के निवासी भी वाहीकों में सम्मिलित थे। कर्ण, इन वाहीकों की निन्दा करता हुआ कहता है कि 'जर्तिका नाम के वाहीकों का आचरण अत्यन्त निन्द्य है, वे धान और गुड की शराव पीते हैं, लहसुन के साथ गोमांस खाते हैं। पूआ मांस, और वाटी को खाते हुए वे शीलवर्जित वाहीक मस्त होकर नंगी स्त्रियाँ के साथ नाचने हैं। वहाँ की गौरवर्ण स्त्रियों मनःशिल का कज्जल लगाती थीं और कम्बल ओढ़ती थी, इनकी 'आरट्ट देश[2] के नाम से भी ख्याति थी। इन देशों में यज्ञ नहीं होता था और इनके निवासी अनार्य और व्रात्य कहलाते थे।

आपस्तम्ब ने गान्धारों के साथ कलिंग, मगध, पारस्कर या कारस्कर और सौवीर को भी आरट्ट माना है—

गन्धारिकलिंगारट्टान् पारस्कान् सौवीरान्वा[3] आरट्ट के स्थान मागधान् पाठ भी मिलता है। इन सब देशों के निवासी व्रात्य (अनार्य) माने जाते थे और और इनकी शुद्धि (आर्यीकरण) के लिए अनेक व्रात्यरतोमयज्ञों का विधान श्रौतसूत्रों में है।

---

1. कर्णपर्व (44-5-7)
2. जर्तिका नाम बाहीकास्तेषां वृतं सुनिन्दितम्।
धाना गौड्यासवं पीत्वा गोमांसं लशुनैः सह॥
अपूपमाँसवाट्यानामाशिनः शीलवर्जिताः।
गायन्त्यथ च नृत्यन्ति स्त्रियो मत्ता विवाससः (क० 44-9)
आरट्टा नाम ते देशा नष्टधर्मा न तान् व्रजेत्।
व्रात्यानां दासमीयानां बाहीकानामयज्वनाम्॥
3. आ० श्रौ० (22-6-18) (2) कीकटोनाम देशोऽनार्यनिवासः (निरुक्त6-6)-4।

सिन्धुसौवीर—सिन्धुजनपद के वशवर्ती और निकटवर्ती दश जनपद थे—शिवि, वसाति, यौधेय, अम्बष्ठ, सुवास्तु, उरशा, सुराष्ट्र सौवीर आदि ।

म्लेच्छयवनों के प्रभाव से सिन्धुसौवीरों में शूकर या वराह को पूज्य माना जाता था । इनका प्रमुख भोजन सक्तु था । सौवीरों की राजधानी रोरुकनगर प्रसिद्ध व्यापारकेन्द था ।

प्राचीनकाल में त्रैककुदाञ्जन के समान सौवीरदेश का सौवीराञ्जन भी भारत भर में विख्यात था ।,

पारद और पह्लव—पाणिनि ने बह्लि, उर्दि और पर्दि इन तीन ईरानी जनपदों का उल्लेख किया है, जिनको पारद भी कहा जाता था, ये ही पह्लव (ईरानी) थे। ये बाह्लीकों और काम्बोजों के साथी थे। महाभारत में तत्कालीन इन जातियों के नाम मिलते हैं जो उदीच्य जनपदों में रहती थीं—शक, यवन, लम्पाक, रामठ, तुषार (तुखार=ठाकुर) मुण्ड, हारहूण, तंगण और परतंगण ।

कैकय—यह एक उदीच्य प्रसिद्ध जनपद था । छान्दोग्योपनिषद् मे कैकयनरेश अश्वपति का उल्लेख है । इसका राज्य एक आदर्श था, जिसमें मद्यपान आदि पूर्णतः निषिद्ध था—

न मे स्तेनो जनपदे कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

"हे ब्राह्मणो ! न मेरे जनपद में चोर है, न कायर, न सुरापी, न यज्ञहीन, न मूर्ख और न व्यभिचारी, फिर व्यभिचारिणी तो होगी ही कहाँ से ।"

मध्यदेश

सूत्रग्रन्थों में मध्यदेश के ये जनपद उल्लिखित हैं—कुरु, पाञ्चाल, भरत, चेदि, वत्स, मगध, साल्व, मत्स्य, काशी, कोसल और विदेह । महाभारत में दशार्ण आदि अन्य अनेक मध्यदेशीय जनपदों का उल्लेख है ।

सम्पूर्ण वैदिकवाङ्मय में कुरुपाञ्चालों के प्रतिभूयसी आदरदृष्टि एवं प्रतिष्ठा का उल्लेख मिलता है, क्योंकि अधिकाँश श्रौतसाहित्य इन्हीं जनपदों में रचा गया । राजसूययज्ञ में अध्वर्यु द्वादश रत्नियों से निवेदन करता था—'भरता राजेति' 'एष वः कुरवो राजेति' 'एष वः पाञ्चाला राजेति' 'एष वः कुरुपाञ्चाला राजेति वा कुरुपाञ्चालान् ।[2]

भारतीय राजनीति, साहित्य और संस्कृति का मध्यदेश (कुरुपाञ्चाल) हृदय या केन्द्र था । जनपद में कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र[3] माना जाता था ।

तैत्तिरीयारण्यक (5-1-1 में कुरु, कुरुक्षेत्र, खाण्डव, परिणाह् तूर्घ्न आदि स्थानों

1. छा० उ० (5-11-5) ।
2. आ० श्रौ० (18-12-7)
3. कुरुक्षेत्रे धर्मक्षेत्रे (गीता 1-1) तथा कुरुधर्मजातक (31-76)

का उल्लेख हैं, जब इन्द्रादि देवों ने यज्ञ किया था। खाण्डववन को कुरुजांगल कहते थे, जो इन्द्र के समय से प्रसिद्ध था, राजधानी का नाम भी इन्द्र के नाम से इन्द्रप्रस्थ रखा गया, जो वर्तमान दिल्ली है।

इन्द्रवृत्रयुद्ध के समय कुरुक्षेत्र में शर्यहाणवत् नाम का सरोवर था, उत्तरकाल में जामदग्न्य राम (परशुराम) के नाम पर इसे रामह्लद कहते थे—'शर्यहाणवद्ह वै नाम कुरुक्षेत्रस्य जघनार्धे सरः स्यन्दते (ऋग्भाष्य 1-84-14 माधव)।

शाल्व—ब्राह्मणग्रन्थों एवं कल्पसूत्रों में शाल्व या साल्व जनपद का वहुधा उल्लेख मिलता है। आपस्तम्बगृह्यमन्त्रपाठ (6-15-5) में यह गाथा मिलती हैं—

यौगन्धरिरेव नो राजेति साल्वीरवादिषुः।
विवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तव ॥

आचार्य आपस्तम्ब इसी शाल्वावयव जनपद युगन्धर के निवासी, थे, यह पूर्व प्रतिपादित किया जा चुका है। शाल्वजाति एक प्राचीन असुरजाति थी, जो असित धान्व की सन्तान थी, इसका शतपथब्राह्मण में उल्लेख है। इसी असुरधान्व का मैगस्थनीज ने डाइनोसस नाम से उल्लेख किया है।[1] महाभारत में असुरशाल्वों का राजा सौभपति था, इससे मैगस्थनीज के कथन की पुष्टि होती है। असुर धनु के पुत्र असित का नाम संभवतः वृक भी था। पं० भगवद्दत्त ने मैगस्थनीज द्वारा उल्लिखित डायनोसिस या वेकस को असुर विप्रचित्ति माना है—जो स्पष्ट ही भ्रामक व असत्य है।[2] विप्रचित्ति देवयुग से पूर्वयुग में हुआ था और वलि के समय तक भारत पर असुरों का ही राज्य था, अतः विप्रचित्ति दानव का समय असितधान्व (Dionysus) से न्यूनतम 4000 (चार सहस्र) पूर्व था, धान्वासुर वहुत वाद में हुआ। स्वयं पं० भगवद्दत्त ने विप्रचित्ति, इन्द्रादि का समय 12000 वि० पू० माना है। अतः उनके कथन स्वयं ही परस्पर विरोधी हैं।

सत्यवान् का पिता द्युमत्सेन शाल्वों का राजा था, जिसके वंश में सावित्रीपुत्र और क्षुद्रकमालव असुर हुए। कनिंघम के अनुसार प्राचीन शाल्वपुर वर्तमान अलवर है। वस्तुतः शाल्वों का विस्तार राजस्थान से ईरान तक था, अष्टाध्यायी में उल्लिखित शाल्वेयपर्वत भारत-ईरान की सीमा पर था।

---

1. Father Baccus was the first who invaded India and was first of all ho Truimphed over the vanquished Indian-Indika, eh IX

   From the time of Dionysus (or Bacchus) to sandrocotus the Indians counted 153 kings and period of 6042 years (Indika, ch IX).
2. द्रष्टव्य भा० बृ० इ० भाग।, पृ० 160।

शाल्वों के छः भाग या अवयव थे—उदुम्बर, तिलखल मद्रकार, युगन्धर, भुलिग और शरदण्ड, इनको शाल्वावयव कहा जाता था, इन्हींको सावित्रीपुत्र भी कहा जाता था, इनमें तीन उपजातियों और सम्मिलित थीं—अजमीढ़, अजक्रन्द और बुध।

महाभारतकाल में शाल्वराज सौभपति की राजधानी का नाम उल्लिखित है। सौभपति की राजधानी मार्तिकावत थी। हमारे मत में यही मर्तिकावत वर्तमान मोहनजोदड़ो है, जहाँ पर मोहनकृष्ण ने सौभपति असुरशाल्वराज पर आक्रमण करके इस असुरसाम्राज्य का नाश किया। यह पहिले ही बताया जा चुका है कि मैगस्थनीज ने युगन्धरों का उल्लेख 'गन्दतरिन' नाम से किया है, इनके ही पार्श्व में मद्रकार या पारिभद्र या प्रभद्रक जनपद था, इसी को मैगस्थनीज ने पालिबोथ्रा (पारिभद्र) कहा था है, यहीं का तत्कालीन राजा चन्द्रकेतु (Sandrocotas) था जिसने युगन्धरों (गन्दतरिन) के साथ सिकन्दर का मुकावला किया। सिकन्दर और चन्द्रगुप्तमौर्य की समकालीनता एक पाश्चात्य कल्पना और मिथ है, जिसकी भारतीयप्रमाण से पुष्टि नहीं होती।

शूरसेन—आपस्तम्ब ने सारस्वत और दार्षद्वतसत्र के अन्त में यमुना में स्नान[1] का उल्लेख किया है, जो कि कारपचवनामस्थान के निकट या त्रिप्लाक्ष के निकट किया जाता था। कारपचव और त्रिप्लाक्षसंज्ञकस्थानों को पहिचान अभी तक नही हुई है, परन्तु अनुमानतः ये स्थान शूरसेन (आगरामथुरा) जनपद में होंगे।

मनुस्मृति के अनुसार कुरु, मत्स्य, पाञ्चाल और शूरसेन ही अतिपवित्र ब्रह्मर्षि देश थे। शूरसेन में मथुरा और यमुना की पवित्रता आज भी प्रसिद्ध है।

मत्स्यजनपद राजस्थान का जयपुरभरतपुर प्रभाग था। वत्सजनपद प्रयाग था। वत्सजनपद प्रयाग का निकटवर्ती क्षेत्र था, जहां की राजधानी कौशाम्बी थी। काशिकोसलजनपद का युग्म उल्लेख होता है; ये प्रसिद्ध स्थान हैं इनकी राजधानी क्रमशः वाराणसी और अयोध्या थी।

मगधादि—वैदिकग्रन्थों में मगध का स्पष्ट उल्लेख है[2], ऋग्वेद में कीकट नाम से इसी का उल्लेख है। कीकट में गया को पुण्यतम तीर्थ माना जाता था—

किं कृण्वन्ति कीकटेषु गावो
नाशिरं दुह्रे न तपन्ति धर्मम्॥ (ऋ० 3-53-14)
कीकटेषु गया पुण्या (पुराण)

वैदिकग्रन्थों में मध्यदेश के चेदि (बुन्देलखण्ड), करुष, निषध, दशार्ण आदि का उल्लेख मिलता है

करुषजनपद भी एक अपवित्र देश माना जाता था, रामायण में ताडका का इससे सम्बन्ध वताया है। इसी के निकट दशार्णजनपद था, जो वर्तमान छत्तीसगढ़ है।

1. कारपचवं प्रति यमुनामवभृथभ्यवयन्ति'
त्रिप्लाक्षं प्रति यमुनाममवभृथभ्यवैति' आ० औ०
2. गन्धारिभ्यो मूजवद्भयो मगधेम्यः (अथर्व० 5-14)

प्रतीच्य—पश्चिम भारत के प्रसिद्ध जनपद थे—आनर्त, सुराष्ट्र कारस्कर अर्बुद, माहेय (हैहय) इत्यादि। इनमें, आपस्तम्ब ने केवल कारस्कर का उल्लेख किया है, यही संभवतः पारस्कर था, जो राजस्थानगुजरातसीमा पर 'थर पारकर' मरुस्थल है, सूत्रकार पारस्कर इसी देश के निवासी थे।

आनर्त जनपद का प्राचीनतम शासक शर्याति मानव था, उत्तरकाल में यहां वीतहव्यक्षत्रियों का राज्य हो गया जिनके पूर्वज हैहय भी कहे जाते थे, इन्हीं को वैदिकग्रन्थों में 'माहेय' कहा गया है—'जमदग्निर्ह माहेयानां पुरोहित आस,' (जै० ब्रा० 1-152),

आपस्तम्ब ने कारस्कर को अपवित्र देश कहा है जैमिनि ने चार अन्य म्लेच्छ जनपदों का नाम लिया है, जिनकी ठीक पहिचान अज्ञात है—महावृष, रज, रजीयान् उदन्यु। महावृष जनपद में रैक्वपर्ण नाम के स्थान का नाम इसी नाम के परिव्राजक के नाम से पड़ा था, जिसका उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् में है।

दाक्षिणात्य भारत—श्रौतकाल में दक्षिण भारत के ये जनपद प्रसिद्ध थे—पाण्ड्य, चोल, केरल, मूषिक, महिष, विदर्भ, अश्मक, आन्ध्र इत्यादि। इनमें मूषिक का ऐतरेयब्राह्मण में मूतिव नाम से उल्लेख है। आन्ध्र, केरल, चोल, पाण्ड्यादि कौशिक विश्वामित्र की सन्तान थे, यह भी ऐतरेयब्राह्मण में ही उल्लिखित है। अश्मक जनपद ऐक्ष्वाक राजा अश्मक के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसको 'नारीकवच' भी कहते थे।

विदर्भ का उल्लेख वैदिकग्रन्थों में अनेकशः हुआ है। विदर्भ एक प्राचीन यादव राजा का नाम था। इस जनपद का सम्बन्ध अगस्त्यलोपामुद्रा से भी था। विदर्भ के माचाल कुत्ते सिंह को भी मार देते थे—'त हैते विदर्भेषु माचालास्सारमेया अपि ह शार्दूलं मारयन्ति।" (जै० ब्रा० 2-4-42)

चातुर्वर्ण्यव्यवस्था—आपस्तम्ब के समय में जन्म से चातुर्वर्ण[1] व्यवस्था दृढ़ थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में क्रमशः जन्म से पूर्व पूर्व वर्ण श्रेष्ठ माना जाता था, जैसा कि आज भी है। परन्तु वर्णव्यवस्था आदिकाल या सदा से ही ऐसा नहीं थी, स्वयं आपस्तम्ब ने सिद्धान्तरूप में वर्णव्यवस्था को परिवर्तनशील माना है, जिसके अनुसार —अधर्माचरण से पूर्ववर्ण निम्नतम स्थिति में पहुंच जाता हैं और धर्माचरण से हीनवर्ण उच्चतम स्थिति को प्राप्त होता है, अर्थात् जन्म से ब्राह्मण शूद्र बन सकता है।[2] परन्तु यह व्यवहार में नहीं था।

---

1. 'चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा :
तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतश्श्रेयान् (आ० ध० 1-1 4-5)
2. "अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमाद्यते जातिपरिवृतौ," धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः' पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृतौ (ध० सू० 2-5-11-10,11)

आदिकाल और देवयुग, यहाँ तव 19वें परिवर्त (7500 वि० पू०) तक अर्थात् विश्वामित्र और परशुराम जामदग्न्य के समय तक जातिव्यवस्था शिथिल थी। वास्तविकता यह थी कि जब स्वायंभुव मनु के समय वृत्तिशास्त्र रचा गया, तब विभिन्न मनुष्य अपनी योग्यता के अनुरूप काम को चुनने लगे। कार्य या वृत्ति के 'वरण' को ही 'वर्ण कहा जाने लगा, जैसा कि यास्क ने वर्णशब्द की व्युत्पत्ति वतलाई है।[1] यह केवल हमारी कल्पना नहीं है, निम्न ऐतिहासिक उदाहरणों से हमारे कथन की पुष्टि होती हैं।[1]

(1) वरुण, विवस्वान् इन्द्र,[2] मनु, यम आदि ब्राह्मण और क्षत्रिय—दोनों का काम करते थे।

(2) मनु (वैवस्वत) का पुत्र नाभानेदिष्ट ब्राह्मण था, भलन्दन और उसका पुत्र वत्सप्रि वैश्य हो गये। इक्ष्वाकु का पुत्र पृषध्र शूद्रकर्म करता था।

(3) ययाति ने ब्राह्मण शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया और असुर वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा से भी विवाह किया।

(4) आङ्गिरस सुधन्वा के तीन पुत्र-ऋभु, विभ्वा और वाज श्रेष्ठ शिल्पी (वढ़ई) हुए।

(5) विवस्वान् के पुत्र अश्विनीकुमार ब्राह्मण और वैद्य हुए।

(6) शुक्र के पुत्र त्वष्टावरूत्री शण्डामर्क आदि दानवों के राजा और पुरोहित दोनों ही थे—मर्क ने डेनमार्क (यूरोप में) वसाया।

(7) भृगु की पुत्री लक्ष्मी का विवाह क्षत्रिय विष्णु से हुआ।

(8) वरुण, क्षत्रिय (असुर महान्=अहुरमज्दा) के पुत्र गन्धर्व थे, साथ ही उनके भृगु और वशिष्ठ जैसे ब्राह्मणपुत्र हुए।

(9) दानव पुलोमा की पुत्री शची का विवाह देवराज इन्द्र से हुआ।

(10) इन्द्र की पुत्री जयन्ती का विवाह असुर पुरोहित शुक्र से हुआ।

(11) कश्यप (ब्राह्मण=कर्म से) ऋषि की सन्तान देव और असुर प्रायः कर्म से क्षत्रिय (राजन्य=शासक) थे।[3]

(12) नृषद् के पुत्र कण्व ऋषि का विवाह असुर अखग की पुत्री से हुआ था।[4]

(13) इक्ष्वाकुराजा मान्धाता की पचास पुत्रियों का विवाह सौभरि काण्व से हुआ।[5]

---

1. 'वर्णो वृणोतेः (नि० 2-3)
2. इन्द्रो ब्रह्मणः पुत्रःकर्मणा क्षत्रियोऽभवत् (महा० शा० 22-11) तानिन्द्रो ब्राह्मणो ब्रुवाणः (मै० सं०)
3. इन्द्र का ज्येष्ठ भ्राता विवस्वान् (सूर्य=आदित्य) पञ्चम व्यास था, जिसने शुक्लयजुर्वेद का प्रवचन किया—'इषेत्वादिखं ब्रह्मान्तं विवास्वानपश्यत्,' (सर्वानुक्रमणी 1-2)।
4. कण्वो वै नार्षदोऽखगस्यसुरस्य दुहितरमविन्दत। (जै० ब्रा० 3-72)
5. विष्णुपुराण (4-2)

(14) विश्वामित्र कौशिक क्षत्रिय से ब्राह्मण हुए, यह इतिहासप्रसिद्ध कथा हैं इसी प्रकार भार्गव परशुराम क्षत्रिय वन गये ।

(15) कवष एलूष शूद्र होकर ब्राह्मण वना ।

(16) ऐतरेय ऋषि शूद्रापुत्र होकर ऐतरेयब्राह्मण का रचयिता हुआ । अतः कृतयुग, त्रेता और यहां तक कि द्वापर के प्रारम्भ तक जन्म से जाति या वर्णव्यवस्था शिथिल थी, अर्थात् वर्ण जन्म से नहीं गुण और कर्म से बनते थे । इसी प्रकार की व्यवस्था प्राचीन ईरान, मिस्र आदि में थी । पुराणों में प्रत्येक महाद्वीप के वर्णों के नाम लिखे हैं, उदाहरणार्थ शाकद्वीप में ब्राह्मण, मग और क्षत्रिय को मशक कहते थे । ईरान में क्षत्रिय की संज्ञा 'रथेष्ठा' थी ।

ऋग्वेद के निम्नमन्त्र से भी यह भाव घोषित होता है—

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम ॥[1]

"मैं शिल्पी हूँ, मेरा पिता वैद्य है, और माता चक्की पीसती है, इस प्रकार विभिन्नबुद्धिवाले धनेच्छुक कार्य करते हैं ।" इस प्रमाण से भी प्रारम्भ में जाति (जन्मतः) वर्णव्यवस्था का खण्डन होता है ।

यज्ञों में विभिन्न शिल्पियों का पर्याप्त समादर था, अपने कर्म और गुण के आधार पर—

नमस्तक्षेभ्यश्च रथकारेभ्यश्च वो नमः ।
नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः ।
नमो निषादेभ्यः पुंजिष्ठेभ्यश्च वो नमः ।
नमः श्वनिभ्योमृगयुभ्यश्च वो नमः ॥[2]

"तक्षा (वढ़ई), रथकार, कर्मार (कुर्मी), निषाद, रजक, चण्डाल और व्याध आदि को नमस्कार है ।"

आपस्तम्व ने दीक्षित क्षत्रिय और वैश्य को भी यजनकाल में ब्राह्मण कहा है—"राजन्यो वा वैश्यो वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद् ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते ।"

आपस्तम्व ने अपने सूत्रों में यज्ञादि में शूद्र द्वारा हविर्निर्माण, गोदोहन आदि का विधान किया है ।

यज्ञ कराना और करना अध्ययन और अध्यापन जैसे प्रसिद्ध वौद्धिककार्य ब्राह्मण के लिए विहित थे, ब्राह्मण को मनुष्यदेव माना जाता था—'मनुष्यदेवा वै ब्राह्मणाः;

---

1. 'ऋ० (9-112-3)
2. यजुर्वेद (16-27)

(षड्० ब्रा० 1-1) क्षत्रिय या राजन्य शासक और रक्षकवर्ग था।[1] कृषि वाणिज्य आदि वैश्य के कर्म थे और श्रमजीवी ही शूद्र था।[2]

चातुराश्रम्य—आपस्तम्ब ने चार आश्रमों के नाम इस प्रकार कहे हैं—गार्हस्थ्य (2) आचार्यकुल (ब्रह्मचर्य) (3) मौन (मुनि—संन्यासी) (4) वानप्रस्थ्य।[3]

सन्यासी की परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, यति, भिक्षु, यायावर आदि संज्ञायें थी।

कुछ आचार्य एक ही आश्रम मानते थे—

ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या : प्रत्यक्षविधानात् गार्हस्थ्यस्य[4]। धर्मसूत्रकार बौधायन के अनुसार प्रह्लाद के पुत्र कपिल नाम के असुर ने आश्रमों का भेद स्थापित किया—'तत्रोदाहरन्ति प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नामासुरआस। स एतान् भेदान् चकार दैवैस्सह स्पर्धमानः।" (बौ० धं० सू० 2-11-30)।

परन्तु यह मत सत्य प्रतीत नहीं होता, इन्द्र के इतिहास से पता चलता है कि ब्रह्मचर्यादि आश्रम बहुत पूर्वकाल से ही प्रचलित थे—'इन्द्रो ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व! राभरत्' (अथर्व 11-5-19)

"इन्द्रो वै देवानाम् अभिप्रवव्राज। विरोचनोऽसुराणां
तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः।" (छा० उ० 8-7)।

आपस्तम्व के समय प्रवृत्तिमार्ग एवं निवृत्तिमार्ग तथा योगाभ्यास के सम्बन्ध में जो वातावरण था, उससे कट्टर प्रवृत्तिमार्गी आपस्तम्व भी अछूते नहीं रहे। इस सम्वन्ध में, उन्होंने धर्मसूत्र में शास्त्रार्थ उपस्थापित किया है। आचार्य ने आश्रमों का क्रम भी विपर्यस्तरूप में लिखा है, उन्होंने सर्व प्रथम गृहस्थाश्रम का नाम लिया है, अतः वैदिक मान्यता के अनुसार गृहस्थाश्रम ही एकमात्र या प्रधान आश्रम था, अन्य आश्रम गौण थे। यदि ब्रह्मचारी गृहस्थ में प्रवेश करके सन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहता था, वह ब्रह्मचारी प्रव्रज्या ग्रहण करता था—और वन में तपस्वी होकर फलमूल का भोजन करता था। उनका श्रेष्ठाश्रेष्ठरूप आचार्य ने पुराणप्रमाण्य से (दोनों मार्गों का) दिखाया है, पुराण का श्लोक है—

अष्टाशीतिसहस्राणि ये प्रजामीषिर ऋषयः।
दक्षिणेनाऽर्यम्णः पन्थानं ते श्मशानानि भेजिरे॥[5]

"वे अस्सी सहस्रऋषि, जो सन्तान की इच्छा करते थे, सूर्य के दक्षिणमार्ग से गये और श्मशान को पहुंचे।"

---

1. क्षत्रं राजन्यः (ऐ० ब्रा०), क्षत्रं हि राष्ट्रम् (ऐ० ब्रा० 7-22)।
2. तपो वै शूद्रः (श. बा. 8-6/13-6-2-10), शुश्रूषा शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम् (आ० ध० 1-1-7)
3. चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यम्, आचार्यकुलं, मौनं वानप्रस्थ्यमिति
4. गौ० ध (3136) 5. आ ध० (21-11)

अष्टाशीतिसहस्राणि ये प्रजामीषिर ऋषयः ।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थानं तेऽमृतत्वं हिकल्पते ॥

"अस्सीसहस्र निवृत्तिमार्गी ऋषिगण उत्तरायण से अमृत (मोक्ष) को प्राप्त हुए !

ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी योगी को अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती है—यथा वर्षाकराने की शक्ति, पुत्रोत्पत्ति का अमोघ आशीर्वाद, दूरदर्शन, मनोजवता, इत्यादि ।[4]

परन्तु आचार्य आपस्तम्ब वेदमार्ग अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग के अनुयायी होने के कारण इसी मार्ग का श्रैष्ठ्य प्रतिपादित करते हैं—

त्रैविद्यवृद्धानां तु वेदाः प्रमाणमिति निष्ठा तत्र यानि श्रूयन्ते व्रीहियव पश्वाज्यपयःकपालपत्नीसम्बन्धान्युच्चैर्नीचैः कार्यमिति तैर्विरुद्ध आचारोऽप्रमाणमिति मन्यन्ते ।" (आ० ध० 2-2-23-9) ।

"त्रयीविद्या के पारंगत विद्वानों के मत में वेद ही परमप्रमाण हैं। इसलिए वेद में व्रीहि, यव, पशु, यज्ञ, पयः कपाल तथा पत्नी के साथ जिन कर्मो यज्ञादि का विधान है, उन्हें ही करना चाहिए और वेद में सन्ततिधर्म को ही अमृतत्व कहा है—अथाप्यस्य प्रजातिकममृतत्वाय आह—"प्रजामधु प्रजायन्ते तद् तेऽमर्त्याऽमृतमिति ।" (आ० ध० 2-2-23-1)

आपस्तम्ब के समय में या इससे पूर्व ही ज्ञानी (परिव्राजक=सन्यासी=भिक्षु) को बुद्ध कहने का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था—

बुद्धे क्षेमप्रापणाय (आ० ध 2-2 23-14) वैदिकमत में बुद्ध (ज्ञानी) होने से दुखः नहीं मिटता—आपस्तम्ब ने इसीं मत का प्रतिपादन किया है—

"बुद्धेचेत्क्षेमप्रापणमिहैव न दुःखमुपलभेत ।[1] अतः बुद्धधर्म कोई नया नहीं था, जिस प्रकार भिक्षुधर्म (सांख्य) या जैनधर्म कोई नया नहीं था, इसी प्रकार बुद्धमार्ग कोई नया नहीं, यह प्राचीन श्रमणापरम्परा की एक शाखामात्र थी, गौतमबुद्ध तो अन्तिम बुद्ध थे, जिस प्रकार महावीर अन्तिम जैन तीर्थंकर थे। बौद्धसाहित्य से 24 बुद्धों की परम्परा (इतिहास) ज्ञात होती है । अतः यह धारणा कि अमुक पुस्तक, सिद्धान्त, या मत पर बौद्धप्रभाव है, व्यर्थ की कल्पना है, यह मार्ग प्राग्भारतयुद्धकाल से ही प्रचलित था ।

उपनयन और ब्रह्मचारी के नियम—विद्याग्रहण के पूर्व आचार्य शिष्य का उपनयन संस्कार करता था, यह एक अनिवार्य कृत्य था, जो केवल त्रिवर्णों के लिए विहित था । उपनयन, सावित्री या गायत्रीमन्त्र के अध्ययन से प्रारम्भ किया जाता था ।[1] वेदज्ञ आचार्य ही धर्मतः उपनयन कराने का अधिकारी होता था। वसन्त में

1. आ० ध० (2-2-23-16)

ब्राह्मण का ग्रीष्म में राजन्य, शरद् में वैश्य का उपनयन होता था। ब्राह्मणपुत्र का अष्टमवर्ष में उपनयन का नियम था। जिसका यथासमय उपनयन नहीं होता था, वह पतितसावित्रीक या व्रात्य कहा जाता था, वह शूद्रतुल्य माना जाता था और उपनयन के लिए प्रायश्चित करना पड़ता था। जितने वर्षतक उसका उपनयन नही होता था, उतने ही वर्ष उसे मन्त्र (व्याहृतिजप) पूर्वक ब्रह्मचारी रहकर स्नान करना पड़ता था, तदनन्तर उपनीत शिष्य ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ आचार्यकुल में वास करता था, उसे अन्तेवासी कहा जाता था। वेदाध्ययन के लिए 12 वर्ष से लेकर 48 वर्ष तक गुरुकुल में वास का विधान था।[2]. प्रत्येक वेद के लिए उसे 12 वर्ष का समय निश्चित था।

गुरुकुलवासी शिष्य ब्रह्मचारी के लिये ये नियम विहित थे—वहअधः शय्याशयन, क्षरलवणमधुमांसभोजननिषेध, दिनस्वापनिषेध, अगन्धसेवी, प्रसाधनहीन, जटाधारी, होकर रहता था। उसको मेखला, दण्ड, कौपीन कम्वल, कृष्णाजिन आदि का उपयोग करना पड़ता था। ब्रह्मचारी नृत्य नहीं देखता था, परिवाद या अनृतवाद नहीं करता था, स्त्री से सम्भाषण नहीं करता था। उद्धृत किया है—

प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीतोच्चरेद्दक्षिणामुखः।
उदङ्मुखो मूत्रं कुर्यात्प्रत्यक्पादावनेजनम्॥[3]

मनुस्मृति में इसका फल कहा गया है—

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुंक्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुंक्ते ऋतं भुंक्ते उदङ्मुखः।[1]

स्नातक के लिए भी ब्रह्मचारी अन्तेवासी के तुल्य ही नियमपालन का विधान था। इसी प्रकार अध्यापक के लिए भी नियम थे, उसके लिए भी अतिमैथुन, प्रसाधन आदि निषिद्ध थे।[5] आचार्य का कर्त्तव्य था कि वह विना विवेक के कोई निर्णय न दे, इस सम्वन्ध में आपस्तम्व ने एक गाथा उद्धृत की है, जिसमें संशययुक्त वचन कहा गया है।[6]

---

1. सर्वेभ्योवै वेदेभ्यस्सावित्र्यनूच्यत इति हि ब्राह्मणम् (आ० ध० 1-1-1-10)
   त्रयएव वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
   तदित्यृचोऽस्याःसावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः (म० स्मृ० 2-77)
2. अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि (1-1-2-1-2)
   षट्त्रिंशदब्दिकं चर्यं गुरौ वार्षिकं व्रतम्।
   तर्धिकं पादिकं वा त्रैविद्यान्तिकमेव वा॥ (म० स्मृ० 3-1)
3. आ० ध० (1-11-31-1),
4. म० स्मृ० (1-1-32-1-22)
5. आ० ध० (1-1-32-1-22)
6. मूलं तूलं वृहति दुर्विवक्तुः प्रजां प्रजां पशूनायतनं हिनस्ति।
   धर्मप्रह्लाद न कुलानाय रुदन् ह मृत्युर्व्युवाच प्रश्नम्॥(आ० ध० 1-11-32-24)

गृहस्थ और विवाह—वेदमन्त्रों में गृहस्थाश्रम की अतीव महिमागाई गई है, जैसा कि गौतम, आपस्तम्बादि ऐकाश्रम्य की व्यवस्था को श्रेष्ठता एवं श्रुतिमूलक मानते थे। पति विवाह के अवसर पर वधू से कहता था—

गृभ्णामि ते सौभागत्वाय हस्तं मया पत्या जरदृष्टिर्यथास।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥

'हे वधू ! मैं सौभाग्य-प्राप्ति के हेतु तुम्हारा हाथ पकड़ता हूं, जिससे तुम मुझे पति के साथ वृद्धावस्था तक रहो। भग, अर्यमा और बुद्धिमान् सविता ने मुझको तुम्हें दिया है।"

साम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।

वह विनम्र, क्षमाशील, शान्त, दान्त, लज्जालु, धैर्यवान्, उत्साही, अक्रोधी, अनसूयु, इत्यादि गुणों से सम्पन्न होता था। नित्य भिक्षाटन करके भोजन संग्रह करता भिक्षा को शिष्य आचार्य को समर्पित करता था।

आचार्य शिष्य को पुत्र की भाँति सदा अध्ययन कराता था, परन्तु कुछ अवसरों पर अनध्याय भी होता था। तिष्यापूर्णमासी, या रोहिणीपौर्णमासी, को अध्ययन का निषेध था। निगम (चौराहा), श्मशान, राजपथ, आदि पर अध्ययन वर्जित था। इसके अतिरिक्त जिस ग्राम में शव पड़ा हो, चण्डाल रहते हों, सन्ध्या में मेघगर्जन में, विद्युत् में, पशु के ऊपर बैठकर अध्ययन का निषेध था। और भी अनेक अवसरों या विघ्नों में अध्ययन का निषेध था—यथा कुत्ता, गवय, वृक, शृगाल, उलूक आदि के बोलने के समय।

समाप्तविद्य ब्रह्मचारी स्नातक कहलाता था और गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकारी होता था—

वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव।
अविलुप्तब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्॥

स्नातक के लिए कुछ विशिष्ट नियम थे, वह गुरुकुल से विदा होकर गाँव में से पूर्व या उत्तर की ओर से प्रवेश करता था, सत्यवादन व मौन का पालन करते हुए भड़कीले वस्त्र नहीं पहनता था। वृक्षच्छाया में मलमूत्र त्याग करता था, जूते पहिनकर, कृष्टक्षेत्र में पथ में, जल में मन्दिर आदि के निकट मलमूत्र त्याग नहीं करता था। वह स्नातक प्राङ्मुख होकर भोजन करता था, पुरीषकर्म दक्षिणामुख होकर करता था।

स्नातक प्रायः सवर्णस्त्री से विवाह करता था, परन्तु प्रतिलोम और अनुलोम विवाहों का विधान भी था। सगोत्र और सनाभि (रूपिण्ड) विवाह प्रतिषिद्ध थे। अन्य धर्मशास्त्रकारों के समान आचार्य आपस्तम्ब ने भी आठ प्रकार के विवाहों का विधान लिखा है—(1) ब्राह्म (2) दैव (3) आर्ष (4) प्राजापत्य (5) आसुर (6) गान्धर्व और (7) राक्षस और (8) पैशाच।[1]

मूल में ये विवाहप्रकार देव, असुर, पिशाच आदि जातियों के नाम पर थे, परन्तु उत्तरकाल में भारतीयप्रजा की विभिन्नजातियों में इनको वैध माना जाने लगा।

ब्राह्मणवर्ण के लिए आद्य चार प्रकार के विवाह वैध थे, क्षत्रिय के लिये राक्षसविवाह और वैश्य के लिए आसुर विवाह वैध था।[2]

कन्या को सुन्दरवस्त्रों से आच्छादित करके श्रोत्रिय (वेदज्ञ) और शीलवान् वर को बुलाकर देना ब्राह्मविवाह था।[3]

यज्ञ में कर्मानुष्ठानकर्त्ता ऋत्विक् को अलंकृत कन्या का दान दैववाह था। वर से एक या गोमिथुन लेकर जब पिता कन्यादान करता था, तो उसे आर्षविवाह कहते थे।[2] कन्या को केवल वाग्दान (विना यौतुक-दहेज के) से देना प्राजापत्यविवाह था। कन्या के पिता द्वारा धनक्रीता स्त्री का उल्लेख है। असुरगण धन लेकर विवाह करते थे, वाहीक देश में यह प्रथा अधिक प्रचलित थी। शाल्व असुरों के वंशज मद्रराज शल्य ने भीष्म से धन लेकर माद्री का विवाह पाण्डु के साथ किया था।

कामेच्छा से जब वरवधू स्वयं प्रेमवश विवाह कर लेते थे, वह कामज या गान्धर्वविवाह था। गन्धर्वों दैत्यों और दानवों में इसी प्रकार के विवाह प्रचलित थे थे, आज भी योरोपियन और अरब देशोंमें यही विवाहपद्धति प्रचलित है।

संरक्षक पिता की चिन्ता किये विना जब वर या वर के समर्थक कन्या का बलात् अपहरण कर विवाह कर लेते थे तो वह राक्षसविवाह कहलाता था। जब सुप्त, मत्त या प्रमत्त कन्या का अधिग्रहण किया जाता था, तो उसे पैशाचविवाह कहते थे।

गृहस्थ के लिए आपस्तम्ब ने गृह्यसूत्र में पाँच प्रकार के पञ्चमहायज्ञों का विधान किया है—(1) ब्रह्मयज्ञ (विद्याध्ययन (2) पितृयज्ञ (पितृसेवा) (3) देवयज्ञ (होम करके ब्राह्मण या विद्वान् को भोजन कराना), (4) पशुयज्ञ—पशु-पक्षियों आदि को भोजन की बलि देना। (5) नृयज्ञ (अतिथियज्ञ) अतिथिसेवा।
इनकी ही पाँच अन्य संज्ञायें मनु ने इस प्रकार कही हैं—(1) अहुत (2) हुत (3) हुताहुत (4) ब्राह्महुत और (5) प्राशित।[4]

आपस्तम्ब ने गृह्यसूत्र में निम्न सात पाकसंस्थाओं या पाकयज्ञों का और विधान किया है जो गृहस्थ को विशेषपर्वों पर या विशिष्ट तिथियों पर करने पड़ते थे—

(1) अष्टका—कृष्णापक्ष की अष्टमी—कार्त्तिक से माघ मास तक होम और बलि (भोजन देना)

---

1. दैवे यज्ञतन्त्रं ऋत्विजे प्रतिपादयेत्' आ० ध० (2-5-11-19)
2. आर्षे दुहितृमयौ मिथुनौ गावौ देयौ (आ० ध० 2-5-11-18)
3. शक्तिविषयाणि दत्त्वाऽऽवहेरत् स आसुरः। (आ० ध० 2-5-12-1)
4. जपोऽहुतोऽ हुताहुतो अंहुतो भौतिको बलिः।
ब्राह्मं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम्॥ (म० स्मृ० 3-७7)

(2) श्रावणी पूर्णिमा के दिन होम और भोजनदान।
(3) आग्रहायणी—अगहन मास की पूर्णिमा पर पाकयज्ञ।
(4) चैत्री—चैत्रमास की पूर्णिमा पर इष्टि।
(5) आश्वयुजी—आश्विन की पूर्णिमा पर पाकयज्ञ।
(6) पार्वणहोम—प्रत्येकमास अमावस्या को दर्श और पूर्णिमा के दिन पूर्णमास (दर्शपूर्णमासयज्ञ)।
(7) श्राद्ध—मासिकवलि एवं ब्राह्मणभोजन।

इन पाकयज्ञों को ही 'वैश्वदेवबलि' कहा जाता था, पाकयज्ञ (वलि) का कुछ भोजन पहिले कुछ भिक्षुकों को दिया जाता था, तदनन्तर सर्वप्रथम अतिथियों को भोजन कराया जाता था, तदुपरान्त बालक, वृद्ध, रोगी आदि को भोजन दिया जाता था। भोजन की कमी (अभाव) होने पर आसन (भूमि), जल आदि अवश्य ही अतिथिसत्कार के निमित्त तत्पर रखे जाते थे।[1]

समाज में स्त्री की स्थिति—वेदमन्त्रों को उद्धृत करके पहिले ही प्रदर्शित किया जा चुका है कि वैदिकसमाज में स्त्री की भूयसी प्रतिष्ठा थी, उत्तरोत्तर यह प्रतिष्ठा घटती गई, इसके प्रमाण ब्राह्मणग्रन्थों, कल्पसूत्रों और स्मृतियों में मिलते है—

वेदमन्त्रों, ब्राह्मणग्रन्थों एवं अन्यशास्त्रों की अनेक विदुषीस्त्रियां प्राचीन साहित्य में उल्लिखित हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य के साथ गार्गी वचक्वनी शास्त्रार्थ का प्रसिद्ध घटना थी, इसी प्रकार सुलभा नाम की ब्रह्मवादिनी ने जनक से शास्त्रार्थ किया और सौलभब्राह्मणग्रन्थ की रचना की, अतः वेद में स्त्रीशिक्षा का विधान था, जैसा कि यमस्मृति में कथन है।

'पुराकल्पे नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।'

ब्राह्मणों एवं कल्पसूत्रों से ज्ञात होता है कि यज्ञ में यजमानपत्नी का साहित्य (सहयोग) आवश्यक था, पाणिनि ने 'पत्नी' शब्द की व्युत्पत्ति यज्ञसम्बन्ध से ही प्रदर्शित की है—

'पत्युर्नोयज्ञसंयोगे' (अष्टा० 4-1-33)

पत्नी के लिये मौञ्जीबन्धन के तुल्य योक्त्रबन्धन (यज्ञार्थ) किया जाता था।

---

1. अभावे भूमिरुदकं तृणानि कल्याणी वागित्येतानि वै सतोऽगारे न क्षीयन्ते कदाचनेति (आ० ध० 2-2-4-14) इस सम्बन्ध में मनुश्लोक तुलनीय है—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

यजमान को प्राय: एक से अधिक पत्नियों की आवश्यकता होती थी, अत: बहुपत्नीप्रथा विहित एवं धर्मसम्मत थी --'एकस्य बहवो जाया भवन्ति ।[1]

उच्चवर्ण के व्यक्ति असवर्णस्त्री से (अनुलोम) विवाह कर सकते थे, जैसा कि यास्क ने बताया है कि रामा केवल रमण के लिये होती थी, जो प्राय: कृष्णवर्ण की होती थी ।[2] अग्निचयनयज्ञ करके यजमान रामा का संसर्ग नहीं करता था, यह आपस्तम्बादि ने विधान लिखा है ।

राजा की चार पत्नियां होती थी—महिषी, वावता, परिवृक्ता, पालागली ।[3] महिषी = ज्येष्ठपत्नी, वावाता = प्रियपत्नी, परिवृक्ता = परित्यक्ता और पालागली = दूतपुत्री = उस समय भी पुत्रवधू श्वसुर से लज्जा करती थी ।[4] स्त्रियाँ शृंगार करके समृद्धरूप को धारण करती थीं । पत्नी को को अर्धांगिनी माना जाता था ।[5]

कहीं-कहीं स्त्री की निन्दा भी की गई है— त्रयो वा नैऋता अक्षा: स्त्रिय: स्वप्न:,' 'अनृतं स्त्री' (श० ब्रा) ।

राज्यसंस्था ओर राजवरण—शतपथब्राह्मण, पारिप्लवोपाख्यान[7] में पृथिवी की आदिम दशविध मानवजातियों के नाम हैं—

मानव, पितर, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, यक्षराक्षस असुर (दैत्य-दानव), दाश (निषाद), सुपर्ण और देवविश । इन प्रजाओं के आदिम सम्राट् वहां इस प्रकार कथित हैं—

(1) मानव प्रजा	—प्रथम समाट्–	वैवस्वत मनु	ऋग्वेद धर्मग्रन्थ
(2) पितर	,,	- वैवस्वतयम	यजुर्वेद ,,
(3) गन्धर्व	,,	—वरुण	अथर्ववेद ,,
(4) अप्सरा	,,	—सोम	आंगिरसवेद
(5) नाग		अर्बुदनाग काद्रवेय	सर्पवेद ,,
(6) यक्षराक्षस		वैश्रवणकुवेर	यातुवेद ,,

1. ऐ० ब्रा० (3-2-12) ।
2. रामारमणायोपेयते न धर्माय कृष्णजातीया (नि० 11-2-2) ।
3. चतस्रो जाया उपक्लृप्ता भवन्ति—महिषी, वावाता, परिवृक्ता पालागली' (श० ब्रा० 13-5-1-8)
4. स्नुषा श्वसुराल्लज्जमाना निलीयत इति (ऐ० ब्रा० 3-2-11)
5. योषायै समृद्धरूपं यत् सुकपर्दा सुकुरीरा स्वोपशा (श० ब्रा० 6-3-11-10)
6. अर्धो वा राम आत्मन: यत्पत्नी (तै० ब्रा० 3-3-5)
7. श० ब्रा० (13-4-3)

(7)	असुर	असितधान्व	असुरवेद ,,
(8)	मत्स्यजीवी (दाश)	मत्स्यसाम्मद	इतिहासवेद ,,
(9)	सुपर्ण	गरुड़ वैनतेय	पुराणवेद ,,
(10)	देव	इन्द्र	सामवेद ,,

वेदमन्त्रों में उपर्युक्त जातियों को पंचजन में विभक्त किया गया है। उपर्युक्त सभी जातियाँ प्रजापति कश्यप की सन्तान थीं। पृथ्वी पर राज्यसंस्था का प्रारम्भ जलप्लावन से पूर्व पृथुवैन्य के काल से हो चुका था। जलप्लावन के अनन्तर भारतीय प्रजा ने मात्स्यन्याय से अभिभूत होकर वैवस्वत मनु को अपना शासक बनाया।[1] मनु ने दण्डशासन एवं अन्यविधानों को धर्मशास्त्र के रूप में निवद्ध किया। प्राचीनभारत में राजा यद्यपि वंशपरम्परा से होता था, परन्तु एक प्रकार से उसका चयन या वरण होता था, प्रजा के प्रतिनिधि, द्वादश रत्नी[2] राजा का वरण एवं अभिषेक करते थे। ये द्वादश रत्नी या राष्ट्र के कर्त्ता धर्ता थे—राजा, पुरोहित, सेनानी, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्ता, संग्रहीता अक्षावाप, गोविकर्त्ता, पालागल (राजदूत) और परिवृक्ती। इनके अतिरिक्त तक्षा, रथकार, कर्मार आदि के प्रतिनिधि भी राज्याभिषेक में सम्मिलित होते थे। राजा केवल क्षत्रियवर्ण का ही हो सकता था, जिसे राजन्य कहा जाने लगा था, परन्तु विद्वत्वर्ग या ब्राह्मण पूर्णतः या पर्याप्त स्वतन्त्रता का उपभोग करता था, ब्राह्मणों की घोषणा थी—

'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः।'
'सोमो वा अस्माकं ब्राह्मणानां राजा।'[3]

जिस कर्म (यज्ञ) से राजा का सृजन होता था, उसे राजसूय कहते थे।[4] राजसूय में अभिषेक के अवसर पर राजा प्रजा के प्रति अद्रोह की प्रतिज्ञा करता था कि "यदि मैं प्रजा से द्रोह करूँ, तो मेरे लोकपरलोक में सुकृत् (पुण्य), आयु, प्रजा (सन्तान) का विनाश हो जाये।[5]" इसीप्रकार राजद्रोह भी निषिद्ध था। आपस्तम्ब-

---

1. महाभारत में कहा है—
शूले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः।
ताभ्यो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिनन्द ह॥
'मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजानं प्रचक्रिरे।' (अर्थशास्त्र)
2. अथर्व० (5-17-19)।
3. आ० श्रौ० (18-12-8)
4. राजा वै राजसूयनेष्ट्वा (भवति)—श० ब्रा० (8-4-3-१)
5. यां च रात्रिमजायेऽहं या च प्रेतोऽस्मि तदुभयमन्तरेण इष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथां यदि ते द्रुह्येयमिति' (ऐ० ब्रा० 8-3-15)

श्रौतसूत्र में इस प्रतिज्ञा के साथ आठ प्रकार के राज्यों का भी उल्लेख है—

'तानहमनुराज्याय, साम्राज्याय भोज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाधिपत्याय'' (आ० श्रौ० 20-1-1)—

इस प्रकार आठ प्रकार के राजा होते थे—

राजा, सम्राट्, भोज, स्वराट्, विराट्, परमेष्ठी, महाराज, और अधिपति (एकराट् या सार्वभौम)।

आपस्तम्ब के समय तक पूर्वप्रथित दो प्रकार की राज्य संख्यायें विद्यमान थीं—सभा और समिति।[1] इनको नरिष्ठा भी कहा जाता था। प्रतीत होता है कि सभा तो राजसभा या संसद् के तुल्य थी और समिति पौरसदस्यों की लोकसभा थी, जो राजकाज में राजा की सहायता करती थीं। सभासद् का स्थान बड़ा ही प्रतिष्ठित एवं संपूजित माना जाता था और उससे आशा की जाती थी कि वह सदा सत्यभाषण करेगा। इष्टापूर्त के सोलहवें भाग का अधिकारी सभासद् होता था।[2] सूत्रग्रन्थों में विदथ और परिषद् नाम की संस्थाओं का उल्लेख भी मिलता है, यथा उपनिषदों में जनकादि कीं परिषद् प्रसिद्ध हैं। विद्वानों यथा शौनकादि की परिषद् भी विख्यात हैं, इन्हीं परिषदों में पार्षदसाहित्य का शौनकादि ने प्रणयन किया था। परिषद् के सदस्य को पार्षद[3] कहा जाता था। परिषद् में रचितग्रन्थ को पार्षदशास्त्र कहा जाता था, शौनककृत ऋक्प्रातिशाख्य और पाणिनिकृत अष्टाध्यायी ऐसे ही पार्षदशास्त्र थे।

राज्यसंस्था में दूत या राजदूत का महत्वपूर्ण स्थान था। मन्त्रों में अग्नि को देवों का दूत कहा है और अग्नि प्रधान देवता था, इसी से दूत की प्रतिष्ठा जानी जा सकती है। आपस्तम्ब ने प्रधान राजदूत को 'पालाकल' कहा हैं और 'अनृतदूत' संज्ञा से अभिहित किया हैं—

'पालाकल इति अनृतदूतं ब्रुवते' (आ० श्रौ० 18-10-26)

अन्य वैदिकग्रन्थों में इसी को 'पालागल' कहते हैं। प्रतीत होता कि दूत को असत्यवादन भी करना पड़ता था, अतः उसे 'अनृतदूत' कहा गया है। पालागल द्वादशरत्नियों में से एक होता था और राजा का इससे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होता था कि पालाकलपुत्री भी चार पत्नियों में एक होती थी, जिसे 'पालागली' कहते थे।

---

1. सभा च या समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने (अथर्व 7-2-1)
   'विद्म ते सभे नाम नरिष्ठा नाम वा अपि' (अथर्व 7-12-2)
2. यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्वस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः।
   (अथर्व 3-21-1)
3. 'पार्षद' शब्द से ही फारसी का 'फरिश्ता' शब्द बना है, जिसका अर्थ देवदूत होता है, नारद आदि ऐसे ही पार्षद थे।
4. श० ब्र० ब्रा० (13-5-1-8)

उस समय 'चर' संस्था भी विद्यमान थी। ऋग्वेद में वरुण के 'स्पश' के नाम से उनका उल्लेख है। 'स्पश' शब्द के ही विकार है—सिपाही, स्पाई (Spy) और पुलिस (Police) i आचार्य कौटिल्य चाणक्य ने कहा ने कहा है कि देवराज इन्द्र के सहस्रों 'चर' थे, जिनसे वह राज्यव्यवस्था को देखता था इसीलिये, उसका एक नाम 'सहस्राक्ष'[1] हुआ।

यज्ञसंख्या—कल्पसूत्रों का पूर्णतः सम्बन्ध यज्ञसंख्या से ही है। भारतीयसंस्कृति में यज्ञ को सदा से ही श्रेष्ठतम कर्म माना गया।[2] आपस्तम्बकल्पसूत्र में जिन विविध यज्ञों का वर्णन है, उनका इस ग्रन्थ में समास और व्यासरूप से उल्लेख किया गया है। यज्ञसंस्था का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ, इस तथ्य का यहां संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

वैवस्वतमनु की एक कन्या थी। इला इसका विवाह सोमपुत्र बुध से हुआ, इसको वैदिक ग्रन्थों में सोमायन बुध कहा है। बुध के समय मनुष्य और जीव अत्यन्त दुर्बल और कृश थे—

दरिद्रा आसन् पशवः कृशाः सन्तो व्यस्थकाः।
सौमायनस्य दीक्षायां समसृप्यन्त मेदसेति ॥[3]

बुध का पुत्र पुरूरवा ऐल हुआ, इसका विवाह गन्धर्वदेश की अप्सरा उर्वशी से हुआ। इसी पुरूरवा ने गन्धर्वों के प्रभाव से एक अग्नि को त्रेधा विभक्त किया—

गन्धर्वानुपधावेति तच्चक्रेऽथ ते ददुः।
अग्निस्थालीं तया राजा गतः स्वर्गं महारथः।
एकोऽग्निः पूर्वमासीद्वै ऐलस्तं त्रीनकल्पयत् ॥

(ब्र० पु० 2-3-19)

एक अग्नि के तीन रूप हुये—गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि। शनैः शनैः अनेकविध यज्ञों की कल्पना और विधान बनाये गये। त्रेताग्नि के प्रवर्तन के कारण युगसंस्था को त्रेतायुग कहा गया। ऋषियों ने त्रेता में मन्त्रों का सम्बन्ध यज्ञों से जोड़ा।[4] ब्राह्मणग्रन्थों और कल्पसूत्रों में मन्त्रसहाय्य से यज्ञतन्त्र का ऐसा निर्माण

---

1. अर्थशास्त्र (1-11-29)
2. 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म (श० ब्रा० 1-7-1-5)
3. ताण्ड्यब्राह्मण (24-18-7)
4. तदेतसत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि।
(मुण्डकोपनिषद् 1-2-11)

क्रिया कि उसकी जटिलता को साधारण याज्ञिक नहीं समझ सकता था और उत्तरकाल में यज्ञ अगम्यसदृश होने के कारण लुप्तप्राय ही हो गये। आपस्तम्ब ने यज्ञ को अनिवार्य कृत्य करार दिया है और यज्ञपथ के विरुद्ध गमन वेदविरुद्ध माना है—

"त्रैविद्यवृद्धानां तु वेदा प्रमाणमिति···तैर्विरुद्ध

आचारोऽप्रमाणमिति मन्यते।[1]

व्रात्यादि—जिस त्रैवर्णिक पुरुष का उपनयन नहीं होता था, उस पतित सावित्रीक को शूद्र, अनार्य व्रात्य कहा जाता था। कुछ जनपदों के, यथा वाहीकदेश में वाहीक, मद्र, काम्बोज, वलूक (वलूच) आदि स्थायी व्रात्य बन गये थे, उनके लिये भी आचार्य आपस्तम्ब ने व्रात्यस्तोम एकाहयज्ञों का विधान किया है। व्रात्य, वास्तव में कुछ कबीले, या गणजातियों की संज्ञा थी, विशेषतपश्चिमोत्तर भारतीय, यथा पक्थ (पठान), अपगण (अफगान), वलूक (वलूच) दरद, हूण इत्यादि। पतञ्जलि ने व्रात्य का व्याख्यान इस प्रकार किया है—

"नानाजातीया अनियतवृतय उत्सेधजीविनः संघा व्राताः।

तेषां कर्म व्रातम्। व्रातेन कर्मणा जीवति स व्रातीनः।[2]"

"अनेक जातियों के अनियतवृत्ति (अनिश्चित धन्धेवाले) समूह, जो लूटमार करते थे, वे व्रात (व्रात्य) कहे जाते हैं, उनका कार्य (वृत्ति) ही व्रात है। जो इस व्रातकर्म से जीवनयापन करते हैं, वे ही व्रातीन (व्रात्य) हैं।"

ये व्रात्यगण व्रात्यस्तोम का अनुष्ठान करके पुनः आर्यवर्ण बन सकते थे। ये व्रात्ययज्ञ में निम्नगामी, फलकास्तीर्ण रथ का प्रयोग करते थे, गुलेल (ज्याहोड) उनका अस्त्र था, वे उष्णीष (साफा) टेड़ा बांधते थे, जो काले रंग का होता था, उनके ऋत्विजों के वस्त्र भी लोहितवर्ण के होते थे[3]। कुछ व्रात्यों के वस्त्र कृष्णवर्ण के भी होते थे। उनकी विनिमयमुद्रा राजत (चांदी की) निष्क होती थी। उनके ग्रामणी को व्रातपति कहा जाता था। व्रात्यस्तोम से यजन करके व्रात्य आर्य एवं व्यवहार्य जन बन सकते थे।[4] वे पुनः निष्पाप माने जाते थे। अनार्य या दस्युओं के आर्यीकरण की यह प्रथा, बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित थी। पाणिनि ने इस प्रक्रिया का उल्लेख किया है—

---

1. आ० ध० (2-9-13-9)
2. महाभाष्य (5-2-21)
3. लोहितवाससो लोहितोष्णीषा प्रचरन्त्यृत्विजः, (का० श्रौ० 22।3।15)
4. यस्य एनद्हति तस्मिन्नेवंमृजाना यन्ति (ताण्ड्य ब्रा०)

'अब्राह्मणाः, ब्राह्मणाःकृताः अक्षत्रियाः क्षत्रियाः कृताः[1] ।''

मध्यकाल में यवन, शक, हूण, तुषार आदि म्लेच्छ जातियां इसी प्रकार क्षत्रिय बनाई गई थी, इनको (तोमर, ठाकुर आदि को) अग्निकुल के क्षत्रिय कहते हैं। ये वाहीक म्लेच्छ आज भारतीयसमाज में इस प्रकार घुल मिल गये हैं कि इनकी कोई पहिचान नहीं कर सकता।

दास—सूत्रकारों के मत में दास, आर्यों के साथ गवामयन यज्ञ में सहयोग करते थे। गवायन सत्र में आठ दासकुमारियाँ जलकुम्भों को शिर पर उठाकर मार्जालीय के प्रति जाती थी। आपस्तम्ब ने एक सूत्र (श्रौ० सू० 5-4-14-9) में असुरों का स्मरण भी किया, जिससे प्रतीत होता है कि आचार्य के काल में भारतवर्ष में असुर (दास) भी रहते थे।

मिश्रितवर्ण—सूत, मगध और आयोगवसंज्ञक मिश्रितवर्णों का प्रासङ्गिक उल्लेख कल्पसूत्र में मिलता है। स्मृतियों में वैश्यजातीय स्त्री से शूद्र द्वारा उत्पन्न सन्तान 'आयोगव' कही जाती थी, सूत्रकार ने उनको ही 'पुंश्चूल' कहा है।[2] यह पूंश्चूल अश्वमेघ यज्ञ में सैध्रकमुसल से कुत्ते कों मारता था और पूंश्चूलस्त्री और ब्रह्मचारी गवामयनयज्ञ में नृत्य करते थे।

सूत की राजकर्म में गहन प्रतिष्ठा थी, वह द्वादशरत्नियों में गहन प्रतिष्ठा थी और राजा का प्रमुख मन्त्रदाता (सलाहकार) होता था, एवं रथ भी हांकता था। राजवंश की कीर्त्ति के गायक मागध और सूत होते थे, इन्हें ही चारणभाट कहा जाता था। राजसूय और अश्वमेध यज्ञ में वीणागाथी ब्राह्मण तीन गाथायें गाता था।[3]

---

1. अष्टा० (4।1।30)
2. आ० श्रौ० (20।3।12)
3. गाथाओं का प्रारम्भ या मूलमन्त्र था—
   (क) अददा इति
   (ख) अयजथा इति और
   (ग) अपच इति इनमें राजा के दान, यज्ञ और भोजन की प्रशंसा होती थी।

आपस्तम्ब ने नापित का 'केशवाप[1] (वाल काटने वाला) के नाम से उल्लेख किया है।

परिवार एवं दायभाग—आपस्तम्वकल्प में परिवारसम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण पद प्रयुक्त हुये हैं, यथा माहिषेय, ज्यैष्ठि नेय कानिष्ठनेय, आनुजावर, भ्रातृव्य, गृहपति इत्यादि। घर का मुखिया 'गृहपति' कहलाता था। बड़ी पत्नी (महिषी) से उत्पन्न पुत्र माहिषेय कहलाता था, इसी प्रकार ज्येष्ठपुत्र ज्यैष्ठिनेय और कनिष्ठपत्नी से उत्पन्न पुत्र कानिष्ठनेय कहलाता था।

तैत्तिरीयसम्प्रदाय में आनुजावर और भ्रातृव्य की भूयसी चर्चा मिलती है—'जो अल्पतेजस्वी होता हुआ, भ्राताओं में बाद में उत्पन्न होता था, उसे 'आनु-जावर' कहा जाता था, यथा, इन्द्र आदित्यों (देवों) में 'आनुजावर' था—'प्रजापतिरिन्द्रमसृजत आनुजावरं देवानाम्' तै० ब्रा० 2-2'10-61)। आपस्तम्वकल्प में आनुजावर के तेजस्वी बनने के लिये अनेक ऋतुओं का विधान है, इसी रप्रका भ्रातृव्य (भतीजे) या शत्रु (जैसे वृत्र, इन्द्र का भतीजा और शत्रु था) के विनाशार्थ भी अनेक यज्ञों का विधान है।[2](आ० श्रौ० 13।9।4)

आपस्तम्व ने धर्मसूत्र (2 पटल) में पुत्र और दायभाग का विवेचन किया है।

समाज या परिवार में पुत्र का महत्व सदा से रहा है, वेद में भी पुत्र का महत्व यथावत् है। 'पुत्संज्ञक नरक से वह रक्षा करता था, इसलिये, उसको 'पुत्र' कहा जाता था। परन्तु यह व्याख्या काल्पनिक प्रतीत होती है, 'पुत्र' का अर्थ है, पुरुष या पिता, जिसकी पुत्र रक्षा करता था, इसलिये उसे 'पुत्र' कहा गया। वेद में दम्पती दश पुत्रों की कामना करते हैं।[3] वेद (ऋ० 7-4-7) में औरस पुत्र को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। और क्षेत्रजपुत्र की मन से भी कामना नहीं करनी चाहिये।[4] आपस्तम्व के मत में सवर्णा एवं यथाशास्त्र विवाहिता पत्नी से उत्पन्न पुत्र ही कर्म एवं दाय के अधिकारी होते हैं।[5] पूर्ववती असंस्कृता (विवाहसंस्काररहिता) एवं भिन्नवर्णस्त्री से पुत्र होने में महान् दोष माना गया है। उन दोनों से उत्पन्न पुत्र भी उतना ही दोषयुक्त होता है[6]।

---

1. आ० श्रौ० (18।15।6)
2. आ० श्रौ० (10।20।7,22।13।21।2।9।4)
3. दशास्यां पुत्रानांधेहि पतिमेकादशं कृधि (ऋ० 1।85।86)
4. न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवाउ (ऋ० 7।4।8)
5. आ० ध० (2।6।1।1)
6. आ० ध० (2।6।1।3)

आपस्तम्ब ने वेदप्रामाण्य से माना है कि पुत्र उत्पन्न करने वाले पुरुष का ही होता है।[1] इस सम्बन्ध में आचार्य ने प्राचीन कुछ गाथायें उद्धृत की है, जिनको टीकाकार हरदत्त ने वैदिकगाथा[2] कहा है, परन्तु, वे पौराणिक गाथायें प्रतीत होतीं हैं क्योंकि इनसे मिलती जुलती गाथाये महाभारत (आदिपर्व 74-10), वायुपुराण मिलती हैं।[3] आपस्तम्ब ने ये श्लोक किसी इतिहासपुराण से उद्धृत किये हैं—अथाप्युदाहरन्ति—

इदानीमेवाहं जनकः स्त्रीणाषीर्ष्यामि नो पुरा।[4]
यदा यमस्य सादने जनयितुः पुत्रमब्रुवन्।
रेतोधाः पुत्रं नयति परेत्य यमसादने।
तस्याद्भार्यां रक्षन्ति बिभ्यतः पररेतसः।
अप्रमत्ता रक्षथ तन्तुमेतं या वः क्षेत्रे परबीजानि अवाप्सुः।
जनयितुः पुत्रो भवति सम्पराये मोघं वेत्ता कुरुते तन्तुमेतमिति॥

पुत्र का दान या क्रयविक्रय सर्वथा निषिद्ध था,[5] इसका तात्पर्य है कि कुछ असभ्य अर्धविकसित जातियों में पुत्र का क्रयविक्रय होता था। भारतीय इतिहास में पुत्रविक्रय का एक ही प्रसिद्ध उदाहरण मिलता है, अजीगर्त द्वारा शुनःशेप का विक्रय।[6]

आपस्तम्ब के अनुसार, पिता अपने जीवनकाल में ही पुत्रों को समान दाय भाग दे देवे, परन्तु क्लीब, उन्मत्त और पतितपुत्र को दाय अंश नहीं देना चाहिये।[7] पुत्र के अभाव में नेदिष्ठ सपिण्ड दाय का अधिकारी होता था।[8] अथवा पुत्राभाव में पुत्री (दुहिता) दाय की अधिकारिणी होती थी। यास्क ने मनु के मत को उद्धृत करते हुये बताया है कि पुत्र-पुत्री दोनों ही समानरूपसे दाय के अधिकारी होते हैं—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

---

1. उत्पादयितुः पुत्र इति ह ब्राह्मणम् (आ० ध० 2।6।1।1),
2. न केवलं ब्राह्मणमेव। वैदिकगाथा अप्ययुदाहरन्ति (हरदत्तवृत्ति)
3. भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः।
   रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात्।
   जाया जनयते पुत्रमात्मनोऽङ्गं द्विधा कृतम्। (म० 1।74।110,111,112)
4. आ० ध० (2।6।1।6)
5. दानक्रयधर्मश्चापत्यस्य न विद्यते (आ० ध 2।6।1।10)
6. ऐ० ब्रा० (33।4)
7. आ० ध० (2।6।2।11)
8. पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः (आ० ध० 2।6।2।2)

आपस्तम्ब ने वैवस्वत मनु के दायविभाजन का उदाहरण देकर यही मत पुष्ट किया है कि उसने सभी पुत्रों में समान दाय भाग बाँटा।[1] कुछ आचार्यों के मत में ज्येष्ठपुत्र ही दायभाग का अधिकारी होता है, अथवा उसको पिता की सम्पत्ति में विशेष अंश मिलता है, परन्तु यह नियम केवल राजवंश के अतिरिक्त अन्य सामान्य जनता में नहीं चला सकता, जनता में तो सभी धर्मयुक्तपुत्र दाय के समान अधिकारी होते हैं—

'सर्वे हि धर्मयुक्ता भागिनः'', (आ० ध० 2-6-2-14)।

भोजन (भक्ष्यविवेक)—आपस्तम्बादिकल्पसूत्रों के रचनाकाल के समय आर्यवर्णों का प्रिय भोजन था ओदन आज्यमन्थ, यवमन्थ, पुरोडाश, चरु, यवागू, इत्यादि हवि; एवं इडाभाग यज्ञशेष के रूप में भक्षण किया जाता था। जल से संयुक्त सक्तु को उदमन्थ[2], घृतमिश्रित सक्तु को आज्यमन्थ कहा जाता था, इसी प्रकार मधु सक्तु मधुमन्थ, पयोमन्थ, दधिमन्थ इत्यादि संज्ञायें प्रचलित थीं। जौ का यवागू वनता था, जो ब्राह्मणों का प्रियपेय भोजन था। दधि और दूध मिलाकर 'सान्नाय' संज्ञक हविः या भोज्य बनता था। व्रात्यों में करीरमन्थ और खर्जूरसक्तु प्रसिद्ध भोज्य थे। मन्त्रों में भी सक्तु और अपूप आर्यजनों के प्रिय प्रियभोजन थे।

यत्तेऽद्य कृणवद् भद्रशोचे अपूपं देव घृतवन्तमग्ने।[3]
कतरत्र आहराणि दधि मन्था परिश्रुतम्।
जाया पतिं विपृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः॥[4]

एकहादि यज्ञों में क्षीर या दधि दृतियों (चर्मपात्रों) में भरकर रथों में लाया जाता था।

ऐतरेयब्राह्मण (7-5-3-6) और आपस्तम्बश्रौतसूत्र (12-24-5) में ब्राह्मणवर्ण के लिये सोम को बलकरभक्ष्य, क्षत्रियों के लिये न्यग्रोध, वैश्य के लिये दधि और शूद्र के लिये जल ही बलकारक भक्ष्य था।

---

1. 'मनुः पुत्रेभ्योदायंव्यभजः' 'दित्यविशेषेण श्रूयते' (आ० 2।6 2।11) यह तै० सं० 3।1।9) का प्रमाण दिया है।
2. अभिमृश्यार्धाः पिष्ट्वा निवान्यादुग्धे सकृन्मथित एकशलाकया मन्थः।
(का० श्रौ० 5।8।12)
3. ऋ० 10।45।9
4. अथर्व० (16।13।13),
5. "सक्षीरदृतयो रथा भवन्ति" (ताण्ड्य ब्रा० 16-13-13)।

यज्ञशेष नीवार, गवेधुक, श्यामक और करम्भ और धान आदि विहित भक्ष्य थे।[1]

आर्यवर्णों में मांसभक्षण सदैव विवादग्रस्त भोजन रहा है। कुछ यज्ञों में ब्राह्मण और क्षत्रिय गो या वृषभ का मांस यज्ञशेष के रूप में भक्षण करते थे। आपस्तम्ब ने वाजसनेय याज्ञवल्क्य के प्रमाण से बैल का मांसभक्ष्य एवं मेध्य(यज्ञिय) बताया है—

'धेन्वनडुहोभक्ष्यम्';

'मेध्यमनडुहमिति वाजसनेयकम्'[2];

मनुस्मृति में मांसभक्षण के सम्बन्ध में परस्पर विरोधीमत मिलते हैं, यथा एक मत में मांसभक्षण घोर पातक एवं सर्वथा निषिद्ध था, तो अन्य मत से मांसभक्षण में कोई दोष नहीं है, एक मत में तो यह गप्प ठोक रखी है कि जो यजमान मांस-भक्षण नहीं करता वह 21 जन्मों तक पशुयोनियों में जन्म लेता है।[3]

यह बात केवल मांसभक्षण को वैध (न्याय) एवं मांसभक्षी की लोलुपता को सन्तुष्ट करने के लिये लिखी है। आपस्तम्ब ने शुक्त (खट्टी), मद्य, अविक्षीर, उष्ट्रीक्षीरमृगाक्षीरादि, कारञ्ज (प्याज) पलाण्डु (लहशुन) कवक आदि अभोज्य बताये हैं। धेनु और बैल का मांस भक्ष्य है। कुक्कुर, प्लव, क्रव्याद्, हंस, भास, चक्रवाक, श्येन, क्रुञ्च, क्रौञ्च का मांस अभक्ष्य है। पञ्चनख पशु अभक्ष्य है यथा वानरादि, परन्तु गोधा, कच्छप, श्वविद्, शल्यक, खड्ग (मृग , और पूतिचरु पंचनख भक्ष्य है।[4]

सुरापान—ऊपर आपस्तम्ब ने धर्मसूत्र (1-5-17-21) में सर्वम् मद्यमपेयम्' लिखा है, परन्तु सौत्रामणीयज्ञ में सुरापान विहित था।[5]

द्यूत– वेदमन्त्रों द्यूत निषिद्ध किया है, (ऋ० 10-5-6), परन्तु आपस्तम्बादि

---

1. पूषण्वते ते चकृमा करम्भं हर्यवते हर्यश्वाय धानाः।
   अपूपमद्धि सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्॥
   (ऋ० 3-52-7);
2. आ० भ० (1-5-17-30-31)
3. नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांस नात्ति मानवः।
   स प्रत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम्। (म० स्मृ० 5-35)
4. द० आ० ध०स० (1-5-17 कण्डिका);
5. द्र० सौत्रामणीयज्ञप्रकरण (आ० श्रौ० 19-2) आपस्तम्ब ने विकल्प भी बताया है—
   सौत्रामण्यनुष्ठानेतु पयोग्रहा वा स्युः (आ०श्रौ० 19.2-23)

के कल्पसूत्रों में राजसूयादियज्ञों मे देवन या द्यूत का विधान था। उस समय कृत-द्वापरादिसंज्ञक पांच द्यूताक्ष पासे होते थे। कृतसंज्ञक पासे से यजमान जीतता था।[1] श्रौतसूत्र में नलसखदिव्याक्षहृदय ऋतुपर्ण की गाथायें मिलती है।[2]

वस्त्र-अलंकार—आपस्तम्ब ने वस्त्र के पर्याय वासः दशा, वस्त्र, वसन आदि का प्रयोग किया है, निम्न वसन प्रख्यात थे—नीवि, ऊर्णदशा. कम्बल, क्षौमवास, चण्डातक, तार्प्य, पाण्डुकम्बल, उष्णीष। इनमें नीवि नीचें कटि पर बांधा जाता था, एक प्रकार का पायजामा था। कौशेयवस्त्र को चण्डातक या दहर कहते थे, यह एक प्रकार की कौपीन थी। ऊपर ओढ़ने के वस्त्र को अधीवास कहा जाता था। शिरोवेष्टन उष्णीष था। व्रात्यों में लोहित या कृष्ण उष्णीष प्रचलित थे।

राजसूय में यक्ष्यमाण व्यक्ति तार्प्य के के ऊपर पाण्डुकम्बल धारण करता था। पत्नी योक्त्रपाश और कुम्बकुरीर धारण करती थी। राजसूय में ही यजमान सुवर्णसूत्र या हिरण्यसूत्र (स्वर्णमाला) पहिनता था। सुवर्ण का आभूषण निष्क, जो मुद्रा का काम भी देता था। आपस्तम्ब ने गले में स्रज् और निष्क पहिने हुये संग्रहीता (कोषाध्यक्ष) का उल्लेख किया है—

"निष्की स्रग्वी संग्रहीता भवतीति विज्ञायते ![3]"

निष्क और शतमान (मुद्रा) का उल्लेख शतपथब्राह्मण (13-4-1-8) में बहुधा मिलता है, यह एक मानक सुवर्णमुद्रा थी, जिसका दक्षिणादान में प्रयोग किया जाता था। अश्वमेघयज्ञ में अश्वग्रीवा में सौवर्ण निष्क सौ पल या कृष्णल के भार के तुल्य होती थी।[4]

वाहन—यज्ञादि में प्रयुक्ततम वाहन थे—अनस् (शकट्), रथ, अश्वरथ, अश्वतरीरथ, महारथ, वृषभ, अश्व, गर्दभ उष्ट्र, अनड्वान्, अश्वतर अश्वतरी, हस्ती आदि भारवाही या वह्य पशु थे। बैल अनस् को ढ़ोता था, इसीलिये उसकी 'अनड्-वान्' संज्ञा प्रथित हूई। रथपृष्ठ में युज्यमान अश्व को पृष्टि कहते थे।[5] दक्षिणा में हस्तिरथ आदि की दक्षिणा में हस्तिरथ आदि की दक्षिणा विहित थी। वाह्लीकदेशोद्भव अश्व को आजानेय अश्व कहा जाता था।

---

1. कृतं यजमानो विजिनाति (आ० श्रौ० 5-6-20-16)
2. आ० श्रौ० (16-6-4)
3, आ० श्रौ० (22-12-9);
4. अश्वस्य ग्रीवासु सौवर्णं निष्कं प्रतिमुञ्चन्ति' (आ० श्रौ० 20-13-14)
5. शतेन शातपलेन च निष्केण उद्गातारम् (आ० श्रौ० 20-13-18);
6. प्रष्टिवाहनं रथं युनक्ति (आ० श्रौ० 18-17-1);

रथों को वस्त्र, कम्बल और चर्म (व्याघ्रादि चर्म) से मढ़ा जाता था, अतः इसी आधार पर रथ को पाण्डुकम्बली, वैयाघ्र, द्वैप, आर्क्ष आदि कहा जाता था।[1] रासभ को चक्रीवान् कहा जाता था, अथवा रथ की यह संज्ञा थी।

पशुपालन -- कृषि, यज्ञ और भारवहन में पशु का बाहुल्येन प्रयोग एवं उपयोग था। द्रोग्ध्री (दुधारू) गाय को धेनु कहा जाता था, अग्निक्षेत्र में प्रयुक्त गौ को 'अग्निहोत्री' कहते थे। गाय के अन्य अनेक विशेषण आपस्तम्बश्रौतसूत्र में प्रयुक्त हुये हैं—निवान्या (मृतवत्सा) षष्ठौही (षड्वर्षा), दित्यौही। (द्विवार्षिकी), कामदुघा या अध्यूघ्नी (बहुत दूधारू), अनुबन्ध्या (यज्ञ में बाँधी हुई), सोमक्रयणी (सोमक्रयार्थ गौ)। आपस्तम्ब ने बलीवर्द की मुष्कर, वृषभ, ऋषभ, अनड्वान् आदि संज्ञायें प्रयुक्त की हैं। बछिया और बछड़े वत्सतरी, वत्सा और वत्स व वत्सतर कहा है।

गौ के अनन्तर यज्ञ में अश्व का अधिकतम प्रयोग था, चतुरंगिणी सेना में अश्वसेना सम्मिलित थी, रथ में भी प्रायः अश्व का ही उपयोग था। दक्षिण में भी अश्व विहित था, यज्ञ में हस्तिदान भी होता। उष्ट्र का एक नाम 'हिरण्य' संज्ञा वैदिकभाषा में प्रसिद्ध थी—'बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।'[2] इस उपनिषद्वाक्य में हस्ति के बाद हिरण्य उष्ट्र के लिये ही हैं, जैसा कि कि अथर्ववेद में स्पष्ट लिखा है—

'त्रीण्युष्ट्रनामानि हिरण्यमित्येके अब्रवीत्।[3]

अज, यज्ञबलि के लिये प्रयुक्ततम पशु था, उसकी अनेक संज्ञा कल्पसूत्र में मिलती है—

छाग, तूपर, लप्सुदी, बर्कर इत्यादि।

वन्य पशुओं में—सिंह, हस्ती, तरक्षु, व्याघ्र, द्विप, शार्दूल, महिष, वृक, एडक, भयैडक, श्वा, वराह आदि का उल्लेख आपस्तम्ब ने किया है।

मेध्य या यज्ञिय पशु पांच ही थे—गौ, अश्व, पुरुष, अज और अवि[4] (भेड़)।

---

1. आ० श्रौ० (22-12-7)।
2. कठोपनिषद् (1।1।23)।
3. अथर्व० (22-132-13)।
4. तवेते पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः
(अथर्व० 11-2-9)

क्रमांक 13902

यज्ञियवृक्ष—यज्ञिय वृक्ष प्रमुखत विहित थे—उदुम्बर, विंककत, पीतदारु, वेणु, वंश, न्यग्रोध, प्लक्ष, काष्मर्य पलाश, समी, अश्वत्थ, विभीतक, खादिर, रोहीतक, बिल्व, वेतस्, सिध्रक, अजकाव, इत्यादि। इन्हीं विशिष्ट वृक्षों के यूप, परिधि, समिधा पात्र आदि यज्ञों में प्रयुक्त होते थे।

शमीगर्भ से दो अरणी बनाई जाती थी। उत्तरारणि और अधरारणि,इन्हीं दोनों से यज्ञाग्नि प्रज्वलित की जाती थी।

यज्ञों में कुश(दर्भ, पवित्र), इषीक, दूर्वा, मुञ्ज, शण, इक्षु आदि का आवश्यक प्रयोग होता था।

कृषि—सूत्रयुग में यज्ञ का प्रमुख साधन कृषि ही था। आपस्तम्ब ने सूत्रों में कृषिसम्बन्धी अनेकशब्दों जा विशिष्ट प्रयोग किया है—

सीर (हल), सीता (फाल), वाप (बीजवपन), खल (खिरान) मूलोपवर्हण (निरयन=निराना), धान्यमरायु (परिणामविशेष), शस्य (फसल), लवण (काटना) इत्यादि।

वाद्य—आपस्तम्ब ने दुन्दुभि (नगाड़ा), अपघाटलिका, तम्वलवीणा, वीणा, शततन्तु आदि वाद्यों का ग्रन्थ में उल्लेख किया है अश्वमेधादि यज्ञों में वीणागाथी वीणावादन करता था और गाथायें गाता था। महाव्रत (गवामयनयज्ञ) में ब्रह्मचारी और पुंश्चूल मिलकर नृत्य करते थे, वाजपेय में आजि या वाजिधावन प्रमुख क्रीडा थी, द्यूतक्रीडा यज्ञों में विहित ही थी।

अस्त्रशस्त्र—आपस्तम्ब ने अनेक अस्त्रशस्त्रों का प्रसंगवश उल्लेख किया है—

धनु, वाण, परशु, क्षुर. असि, शूल, नाराच, ककर, खनित्र, अष्ट्रा, वाशी, निषङ्ग, कवच-मुसल, पाश, कृपाण, शास, वज्र आदि।

अतिथि और मधुपर्क—प्राचीनभारत में अतिथिपूजन को अत्यन्त श्रेष्ठकर्म माना जाता था और इसे नृयज्ञ कहते थे।[1] प्रियातिथि के लिये ब्राह्मणग्रन्थों और

---

1. आपस्तम्ब ने लिखा है—

'अग्निरिव ज्वलन्नतिथिरभ्यागच्छति'

अतिथि अग्नि के समान जलता हुआ आता है, उसकी पूजा से ही शान्ति होती है—

'तस्य पूजायां शान्तिः-स्वर्गश्च' (ध०सू० 2-2-6-6)

कल्पसूत्रों में गौ और मधुपर्क प्रदान करने का विधान था। पहिले संभवत गौ अतिथि को दुग्धपानादि के लिये दान में दी जाती थी, परन्तु कुछ लोग गोघात करके उसका मांस भी अतिथि को खिलाने लगे। आचार्य, ऋत्विक स्नातक, राजा, वर, श्वसुर ये प्रियातिथि थे और इनके लिये गोघात किया जाता था (द्र०ऐ० ब्रा० 1-3-4), इसलिये पाणिनि के एक सूत्र में अतिथि को गोघ्न (दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने) कहा है। इसी प्रथा के अनुकरण पर भवभूति ने उत्तररामचरित में वशिष्ठ के लिये गोवत्स हनन का उल्लेख किया है।' (अङ्क 4-1)। यद्यपि मधुपर्क दधि या पयोमिश्रित मधु को कहते थे[1], परन्तु इसमें मांसभक्षण भी सम्मिलित कर लिया गया जैसा कि शांखायन ने लिखा है –

मधुपर्के च सोमे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः।[2]

आपस्तम्ब ने गोदान और मधुपर्क में हिंसा का उल्लेख नहीं किया।[3] व्याख्याकार हरदत्त ने भी गाय को दक्षिणारूप में बताया है। आचार्य, ऋत्विक्, श्वसुर और राजा, यदि एक वर्ष के अनन्तर अतिथि रूप में आवे तो उन्हें गोदक्षिणा और मधुपर्क दिया जाता था।

आपस्तम्ब ने अतिथिसेवा को प्राजापत्य यज्ञबताया है।[4]

शिक्षा और वाङ्मय—सूत्ररचना के समय (द्वापर और कलि प्रारम्भ) में चरण और परिषद् नाम की संस्थायें शिक्षा, वाङ्मय प्रणयन के प्रमुख केन्द्र थे। चरण एक प्रकार की शाखा या शाला (स्कूलशब्द शाला का विकार है) को कहा जाता था, उसके प्रवर्तक को चरणप्रवर्तक कहा जाता था, चरण में अधीन अटनशील विद्वान् को 'चरक' भी कहते थे, वैशम्पायन एक ऐसा ही चरक था। किसी चरक ऋषि (अग्निवेश) ने चरकसंहिता (चिकित्सा) बनाई थी। पाराशर्य व्यास, ऐतरेय, उद्दालक, वाजसनेय, कठ, कलाप, मधुक कात्यायन, शौनक, आपस्तम्वादि ऐसे ही चरक या चरणप्रवर्तक आचार्य थे।

चरण (स्कूल) के समान परिषदों में विपुलवाङ्मय का निर्माण हुआ। गोभिल ने सपरिषत्क आचार्य को यज्ञ के समान बताया है—यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वा

---

1. दधिमधुसंसृष्टं मधुपर्कः पयो वा मधुसंसृष्टम् आ० ध० 2-5-4)
2. शा० गृ० (2-16-1)।
3. गोमधुपर्काहौं वेदाध्यायः (आ० ध० 2-4-8-5)।
4. स एष प्राजापत्यः कुटुम्बिनो यज्ञो नित्यप्रततः, (आ० ध० 2-3-7-1)।

भूयासमिति सपरिषत्कमाचार्यमभ्येत्य ब्रह्मचारी पठति, श्रेष्ठशिष्य परिषद् सहित आचार्य का प्रिय होना चाहता था ।[1]

बौधायन[2] ने विभिन्न प्रकार के अध्यापकों की ये श्रेणियाँ बताई हैं—

(1) उपाध्याय—वेद के एक भाग या व्याकरण आदि वेदाङ्ग को पढ़ाने वाला ।

(2) ब्राह्मण—जो ब्रह्मचारी थोड़ा सा वेद पढ़ा हो ।

(3) श्रोत्रिय—जिसने किसी वेद की सम्पूर्ण शाखा पढ़ी हो ।

(4) जिसने वेदवेदाङ्गों का अध्ययन किया हो-अनूचान

(5) ऋषिकल्प —जिसने कल्पसूत्रों का अध्ययन किया हो ।

(6) भ्रूण—जिसने वेदाङ्गों और ब्राह्मणों का अध्ययन किया हो ।

(7) ऋषि—जिसने चारों वेदों का अध्ययन किया हो ।

(8) देव—परम विद्वान् । यथा शौनक आदि ।

मनु के मत से विद्वान् ही वृद्ध होता है, न कि आयु या पीलेवालों से या धन या कुटुम्ब से ।[3]

आपस्तम्ब के समय विपुलवाङ्मय विद्यमान था । वेदों की अनेक शाखायें अनेक ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् इतिहासपुराण (भविष्यत्पुराणसहित) न्याय, मीमांसा, वेदान्त और षड्वेदाङ्ग विद्यमान थे—

आपस्तम्ब ने धर्मसूत्र (2-4-8-11) में इनका परिगणन किया है—

"छन्द-कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शीक्षा च्छन्दोविचितिरिति ।"

छन्द: से यहां तात्पर्य वेद से है ।

आपस्तम्ब द्वारा कल्पसूत्र में अन्यत्र उल्लिखित वाङ्मय एवं आचार्यों का उल्लेख पूर्व अध्यायों में किया जा चुका है ।

---

1. गो० गृ० (3-4-28) ।
2. बौ० गृ० (1-7-2-8) ।
3. न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभि: ।
   ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचान: स नो महान् (म० स्मृ० 2।154)

अध्याय—अष्टम

हविर्याग

(दर्शपौर्णमास)

आचार्य आपस्तम्ब ने अग्न्याधान से पूर्व सर्वप्रथम दर्शपूर्णमासयज्ञ का व्याख्यान किया है। दर्शपौर्णमास समस्त इष्टियों की प्रकृति है।[1] इनमें दर्शेष्टि आमावस्या के दिन और पौर्णमासेष्टि पूर्णिमा के दिन सम्पन्न किये जाते थे।[2]

धूर्तस्वामी आदि व्याख्याकारों ने दर्शपद की व्याख्या इस प्रकार की है—

'दृश्यते यस्मिन् क्षणे सूर्येण सङ्गतश्चन्द्रमाः सिद्धैः स क्षणो दर्शः'

जिस क्षण चन्द्रमा सूर्य के साथ सिद्धों को दिखाई देता है, यही क्षण 'दर्श' होता है। वस्तुतः इस दिन आमावस्या होती है और चन्द्रमा दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार पूर्णमास या पूर्णिमा चन्द्रमा का ही अपर नाम हैं, 'मास' चन्द्रमाः को ही कहते हैं, इस दिन चन्द्रमा पूर्ण होता है, इसीलिये इसे पूर्णमास कहते हैं।' दर्श और पूर्णमास से ही दर्शपौर्णमास शब्द वना।

यागावधि—जैमिनि, आपस्तम्ब, वाजसनेय आदि के मत में यह यज्ञ तीसवर्ष या जीवनपर्यन्त करना चाहिये—

जैमिनि—'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत[3]

आपस्तम्ब—त्रिंशतं वर्षाणि जीर्णोवा विरमेत्।[4]

वाजसनेय—य एवं विद्वांस्त्रिशतं वर्षाणि यजेत्।[5]

---

1. दर्शपूर्णमासाविष्टीनां प्रकृतिः (आ० श्रौ० 24-3-32)
2. We have the details of Dashpurnamasa isti, a cermony in connection with New and full Moon Sacrifice. (Intr. to S.B. p. 382)
3. मी० सू० (10-8-36)।
4. आ० श्रौ० (3।14।3)।
5. श० ब्रा० (11।1।0।13)।

दर्शपौर्णमास की महिमा—ब्राह्मणादिग्रन्थों में दर्शपौर्णमासयज्ञ को देवरथ, प्राकृताश्वमेधयज्ञ इत्यादि नामों से संस्तुत किया है—

एष वै देवरथो यद्दर्शपूर्णमासौ" (तै० सं० 2-5-6-1)

शतपथब्राह्मण के मत में जो पुरुष दर्शपौर्णमास का प्रत्येक मास यजन करता है और अग्निहोत्र करता है वह वास्तव में अश्वमेधयज्ञ ही करता है यह दर्शपौर्णमाम प्राकृत अश्वमेधयज्ञ ही है। यह चन्द्रमा ही अश्वमेध है।[1]

अधिकारी यजमान—पौर्णमासेष्टि दो दिवसों में संपन्न होती है। इस इष्टि का प्रथम दिन 'उपवसथ' कहा जाता है, दूसरा दिन 'यजनीय' होता है प्रथम दिन अग्न्याधानादि कर्म और दूसरे दिन यजनादि होते हैं। यद्यपि दर्श पौर्णमास का एक साथ ही उल्लेख है वस्तुतः यह यज्ञ पृथक् पृथक दिनों में किया जाता है। पौर्णमास के दिन—अष्टाकपाल पुरोडाशयाग, अग्नीषोमीय उपांशुयाग, आज्यद्रव्यक अग्नीषोमीय एकादकपालपुरोडाश याग—इस प्रकार तीन यज्ञ किये जाते हैं। अमावस्या के दिन (दर्शेष्टि) आग्नेयपुरोडाश प्रथमयज्ञ, दधिद्रव्यक ऐन्द्रयज्ञ और तृतीय पयोद्रव्यक ऐन्द्रहविर्यज्ञ। इस प्रकार दोनों अवसरों पर कुल मिलाकर छः यज्ञ हो जाते हैं।

इन छः यज्ञों को सान्नाययाजी ही कर सकता है, दधि और पय (दूध) के मिश्रण को ही सन्नाय कहते हैं। सोमयाजी ही सन्नाययज्ञ कर सकता है। आगतश्री ही महेन्द्रयाग कर सकता था। शुश्रूवान्, ग्रामणी और राजन्य का ही महेन्द्रदेवता यज्ञ में अधिकार था। अतः दर्शपौर्णमास जैसे छोटे यज्ञ से ही अश्वमेघपर्यन्त महायज्ञ को केवल धनसम्पन्न उच्चवर्ग का व्यक्ति ही कर सकता था।[2] प्रत्येक या साधरण व्यक्ति किसी भी यज्ञ को नहीं कर सकता था। महाभारतकाल में भूरिश्रवा, सोमदत्त, अक्रूर, वसुदेव जैसे राजन्य ही यज्ञों करते थे, सामान्यजन नहीं।

---

1. तदाहुं प्राकृताश्वमेधः—तद्वा एवाश्वमेधःयच्चन्दमाः। सयो वै विद्वानग्निहोत्रं च जुहोति दर्शपूर्णमासाभ्यां च यजते मासि मासि हैवास्याश्वमेधेनेष्टं भवति,
(श० ब्रा० 11।2।5।1।5)
2. नागतश्रीर्महेन्द्रं यजते, त्रयोवावः आगतश्रियः शुश्रूवान् ग्रामणी राजन्यस्तेषां महेन्द्रो देवता। (तै० सं० 2।5।4।4)
नागतश्रीमहेन्द्रंयजेत् त्रयो वै गतश्रियः इत्युक्तम्। (आ० श्रौ० 1।4।4।7)
और्वो गौतमो भारद्वाजस्तेऽनन्तरंसोमेज्यया महेन्द्रं यजरेन्।
(आ० श्रौ० 1।4।1।14।10)

वस्तुतः दर्शपौर्णमास पितृपूजनयज्ञ था। आमावस्या को विशेषत पूजन होता था, इसका आगे व्याख्यान होगा।

दर्शपौर्णमास मनुष्य के जन्म, मरण, विकास और ह्रास की अनुकृति पर कल्पित किया गया था। शतपथब्राह्मण स्वैदायनाख्यान (एकादशकाण्ड चतुर्थ अध्याय) मे इसी तथ्य का विस्तृत व्याख्यान है। पं० गिरधरशर्मा ने तन्मतानुसार यही बात लिखी है।[1]

यजमान के व्रतादिक—सभी आचार्यों के मत में यजमान के लिये ब्रह्मचर्य, सत्यवादी और शुद्धाहार होने का विधान है। आपस्तम्ब ने यजमानकर्म के त्रिविध क्रम बताये हैं।

प्रथम पक्ष में अशन, अग्न्यान्वाधान, और व्रतोपायन, द्वितीय पक्ष में—व्रतोपायन, अशन और अग्न्यान्वाधान और तृतीय पक्ष में—अग्न्यान्वाधान, व्रतोपायन और अशन।

यजमान 'ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु' इत्यादि मन्त्रों अथवा विकल्प से महाव्याहृति द्वारा अग्निप्रणयन किया जाता है। वाचंयम (मौनी) यजमान व्रत में मांस और मैथुन से दूर रहता है, केवल घृतमय या दुग्धमय भोजन करता है अथवा वृक्षों की आरण्य ओषधियों का भोजन करता था। रात्रि में जागरण या अधःशयनकरता था। प्रातः यजमान की वपनक्रिया (केशश्मश्रु कांटना) होती थी।

आपस्तम्ब ने श्रौतसूत्र में वाजसनेयों का मत उदाहृत किया, तदनुसार यजमान बिल्कुल खुरमुन्डाहो जाता था।[2] स्नान के अनन्तर यजमान यज्ञाग्नि (आहवनीय) के पूर्व में स्थित मन्त्र जपता था—अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि। तदनन्तर वह आदित्य के सम्मुख सूर्योपासना करता था।

---

1. "एक प्राकृतयज्ञ जो प्रकृति में सतत होता रहता है, और दूसरा अनुष्ठेय वा कृत्रिमयज्ञ जो मनुष्यों द्वारा किया जाता है।"

   जिस दर्श पौर्णमासयज्ञ का बालक से दांत निकलने, केशलोम उत्पन्न होने आदि से सम्बन्ध बताया है, वह अवश्य ही प्रकृति का वैज्ञानिक दर्शपौर्णमास है, जिसके आधार पर कर्मकाण्ड की विधियों के अनुसार कृत्रिम दर्शपौर्णमासयाग होता है; (वै० वि०भा०सं० पृ० 5 तथा 8)।

   'अनल्पशो लोमानि वापयत इति वाजसनेयकम् (आ० श्रौ० 4-1-1-13)

2. ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा दर्शपूर्णमासयोः (आ० श्रौ० 3-18-1)।

यज्ञोपक्रम—जिस रात्रि को चन्द्रमा पूर्ण हो, अथवा द्वितीया खर्विका (तृतीया) के दिन व्रत करने का विधान था। वाजसनेयमन में तृतीया के दिन व्रत किया जाता था।

ब्रह्मवरण—यजमान यज्ञार्थ ब्रह्मिष्ठ ब्रह्मा का सर्वप्रथम वरण करता था।[1] त्रयीविद्या में प्रशस्यतम भूयोविद्य विद्वान् को ब्रह्मिष्ठ कहते थे। यजमान ब्रह्मवरण करते हुये मन्त्र जपता था—

'भूपते भुवनपते महतो भूतस्य पते ब्रह्माणं त्वा वृणीमहे'[2]

व्रत ब्रह्मा जपता था - 'वाचस्पते यज्ञं गोपाय," किन्हीं के में मत इस मन्त्र को यजमान जपता था। ब्रह्मा ब्रह्मसदन से तृणादिक को हटा कर स्वासन पर बैठ जाता था।

प्रणीताप्रणयन—यज्ञार्थजलों के प्रसवन को प्रणीताप्रणयन कहा जाता था। जल को लाते हुये ब्रह्मा इस मन्त्र का उच्चारण करता था—

प्रणय यज्ञं देवता वर्धय।
त्वं नाकस्य पृष्ठे यजमानोऽस्तु।
सप्तऋषीणां सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं
यज्ञं यजमानं च धेहि।[3]

तदनन्तर ब्रह्मा हव्यादि का प्रोक्षण (पोंछना) करता था।

प्राशित्रहरण—ब्रह्मा द्वारा प्राशनीय भाग को प्राशित्र कहा जाता था। अध्वर्यु प्राशित्र को लेता हुआ मन्त्र बोलता था—'मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रेक्षे[4]', ब्रह्मा प्राशित्र को अञ्जलि में ग्रहण करता था। वह प्राशित्र का भक्षण करता था। अथवा अपने कंधे पर वांध कर रख लेता था। ब्रह्मा प्राशित्र को विना दांतों को स्पर्श किये हुये भक्षण करता था।

---

1. आ. श्रो. (3-6-13-2)।
2. आ. श्रौ. (3-6-19-1)।
3. आ. श्रौ (3-6-9-5)।
4. आ. श्रौ. (1-4-14)।

पात्रसंसादन—अग्निपरिस्तरण के अनन्तर अध्वर्यु यज्ञिय पात्रों को गार्हपत्य या आहवनीय अग्नि के उत्तर में रखता था—शूर्प, अग्नि होत्रहवणी, स्फय, कपाल, शम्या, कृष्णाजिन, उलूखल, मुसल, दृषद् , उपल, स्रुव, जुहू, उपवेष, उपभृत्, ध्रुवा, वेद, पात्री, आज्यस्थाली प्राशित्रहरण, इडापात्र, प्रणीताप्रणयन पात्र। ये पात्र द्वन्द्वशः (दो-दो) रखे जाते थे. ये पात्र कांस्य, वानपस्य और मृण्मय होते थे।[1] इनमें शूर्प इषीकाओं का बना हुआ होता था, भारद्वाज के मत में वैणव (बांस) या नलमय (नडमय) शूर्प भी होता था।[2] कपाल टूटे हुये घड़े के होते थे। इन पात्रादि की आकृति एवं व्याख्या अन्यत्र की चुकी है।

तदनन्तर अध्वर्यु ब्रह्मा को आदेश देता है—"ब्रह्मन् आओ (जलों) का प्रणयन करो और यजमान को मौनव्रत धारण कराओ।"

हविर्निवापादि—शूर्प प्रतापनादि के अनन्तर अध्वर्यु हविर्धानसंज्ञक शकट पर चढ़ता है और पुरोडाशीय व्रीहि या यवों को हविर्धान में रखता है। इससे पूर्व इन यवादि को शूर्प से मन्त्रजपपूर्वक स्वच्छ करता है।

शकट पर लाये गये हवि को गार्हपत्य के पार्श्वदेश में रखा जाता है, पकाने के समय आहवनीयाग्नि के पास रखा जाता है। तब अध्वर्यु प्रोक्षणीजलों से यवादि हवि को शुद्ध करता है, यह प्रोक्षण (शुद्धीकरण) तीन बार होता है। तदनन्तर कृष्ण-जिन पर रखकर उलूखल में व्रीहि डालकर कूटते हैं। अध्वर्यु मुसल लेकर तीन बार हवि में मारता है—

'हविष्कृदेहीति'
यह वाक्य बोलता है।

तदनन्तर यजमानपत्नी, आग्नीध्र आदि व्रीह्यादि को कूटते हैं।

आपस्तम्वकल्प के अनुसार कूटते समय ब्राह्मण कहता था—

'हविष्कृदेहीति'; राजन्य 'हविष्कृदागहीति', वैश्य हविष्कृदाद्रवेति, और शूद्र 'हविष्कृदाधावेति' बोलता था। इससे सिद्ध होता है कि शूद्र भी यज्ञसम्पादन का अधिकारी होता था।[3]

---

1. कंसेन प्रणयेद् ब्रह्मवर्चसकामस्य, मृण्मयेन प्रतिष्ठाकामस्य गोदोहनेन पशुकामस्य। (आ. श्रौ. 1-5-16-2)
2. भार. श्रौ. (1-22-1)
3. आ. श्रौ. (1-6-9-8)
शतपथब्राह्मण द्रष्टव्य 1-1-4-14)।

त्रिःफलीकरण—तीन बार मन्त्र बोलकर तण्डुलों (व्रीहि) को भूसा से अलग करना त्रिफलीकरण कहा जाता था। सुफलीकृत तण्डुलकणों को सुगुप्तदेश में रखा जाता था।

हविःपेषण और कपालोपधान—तदनन्तर अध्वर्यु तण्ड्लों को पीसता है और अग्नीत् कपालों को रखता है। अग्नीत् एकादश कपालों को विभिन्न दिशाओं में रखता है। पुनः अग्नीत् उपसर्जनीसंज्ञक जल से तण्डुलाआटे को मीढ़ता है, जिससे कि पुरोडाश बन सके, तब हवि (पुरोडाशों) को आहवनीय या गार्हपत्य पर पकाया जाता है। इन पुरोडाशों को कपालों पर पकाया जाता था। आपस्तम्ब के मत में पुरोडाश समान, अनपूपाकृति, कूर्मप्रतिकृतितुल्य और अश्वशफमात्र होने चाहिये।[1]

वेदिकरण—अध्वर्यु अथवा अन्य कोई कर्मकर आहवनीय के समीप दो, तीन चार या पाणि के शुक्लभाग यावत् गहरी वेदी खोदता था। वह तिर्यक् व्याम या प्रादेशमात्र और पूर्वपार्श्व में त्र्यरत्निमात्री होती थी। वेदि के तीन भाग दूर उत्कर (कूडा डालने का स्थान) बनाया जाता था। वेदी का प्राग्भाग ऊंचा, पश्चिमभाग श्रोणिवत् और आगे तन्वीरूप में होना चाहिये, पश्चाद्भाग पृथु और मध्य भाग सन्नत (नीचा) होता था। तदनन्तर अध्वर्यु वेदसंज्ञक प्रक्षालन से वेदि को झाड़ता था—तीन बार—

वेदेन वेदिं विविदुः पृथिवीं सा पप्रथे पृथिवी पार्थिवानि।
गर्भं बिभर्ति भुवनेष्वन्तस्ततो यज्ञो तायते विश्वदानिः ।।[2]

दर्भनिधानार्थ स्तम्बहरण (कुशगुच्छग्रहण) होता था। इसके साथ ही उत्कर-विधान, वेदिपरिग्रहण आदि कर्म होते थे।[3]

आसादनादिकर्म—संप्रेषित आग्नीध्र स्फ्य को फटकारकर, हाथ धोकर, प्रणीताजल के समीप स्फ्य रखता है तदनन्तर इध्म, बर्हिः, आदि को रखकर, वह स्रुव को तपाता है, उसे जल में धोकर अध्वर्यु को देता है एवं वही जुहू, स्रुच प्राशित्र-हरण, श्रृतावदान आदि अध्वर्यु को देता है। स्रुक्संमार्जन के अनन्तर आग्नीध्र यजमानपत्नी को त्रिगुणमुञ्जरश्मि से बांधता है, इसे ही पत्नीसंन्नहन कहा जाता था।

---

1. आ. श्रौ. (1-8-25-4)।
2. आ. श्रौ. (2-1-3)
3. आ. श्रौ. (2-1-2-13)

आग्नीध्र यजमानपत्नी के वस्त्रों को बाहर से ही परिवेष्टित करता हुआ योक्त्रपाश बांधता है और यह मन्त्र जपते हैं—

इन्द्राणीवाविधवा भूयासमदितिरिव सुपुत्रा ।
अस्थूरि त्वा गार्हपत्योपनिषदे सुप्रजाः ॥[1]

आज्यग्रहणादिकर्म—यजमानपत्नी वेद को हाथ में लेकर आज्य का अवलोकन करती है। आग्नीध्र सर्पिधानभाण्ड के मुख की खोलकर आज्य को हिलाता है और अध्वर्यु चार स्रुव आज्य ध्रुवा में डालता है, यदि अनुयाज हों तो आठ स्रुव उपभृत् में डालकर हवन करता है।

तदनन्तर अध्वर्यु यजमानपत्नी की ग्रन्थि को खोलता है और बर्हिः (कुश) के अग्रभाग से प्रस्तरपवित्र को निकालता है और इनको यजमान को दे देता है, यजमान प्रस्तर को अध्वर्यु देता है। अध्वर्यु उस प्रस्तर (कुश) को ब्रह्मा से लेकर परिधि के (यज्ञकाष्ठ-ईंधन) चारों ओर रखता है। परिधिकाष्ठ इन वृक्षों के होते हैं—पलाश, विकंकत, काष्मर्य, विल्व, खादिर, और उदुम्बर। अध्वर्यु प्रज्वलित काष्ठ को प्राग्भाग से करता है, इस कार्य को उदूहन कहते हैं—

अनूयाजार्थे प्राची उल्मुकेनेदूहति इति वाजसनेयकम् (आ० श्रौ० 2-3-9-4)

तदनन्तर परिधिपरिधान होता है अर्थात् काष्ठों को प्रज्वलनार्थ क्रम से रखा जाता है।

अध्वर्यु वेदि के निकट कुशाओं के दो तृण आहवनीयाग्नि के पीछे टेड़े करके रखता है, उन्हे विधृती कहते हैं।

सामिधेनीपाठ—अध्वर्यु घृत से कपालों और पुराडाशों को चिपड़ता है और मन्त्र पढ़ता है—

यस्ते प्राणन्पशुषु प्रविष्टो देवानां विष्ठामनु यो वितस्थे ।
आत्मन्वान्त्सोमघृतवान् हिभूत्वाग्नि गच्छ स्वर्यजमानाय विन्द ॥[3]

यहां मन्त्र की काल्पनिकता और वैयर्थ्य द्रष्टव्य है, प्राणहीन पुरोडाश (रोट) में आत्मादि का समावेश किया गया है, इस प्रकार के निरर्थक विनियोग आपस्तम्ब से वहुपूर्वशाल में ही प्रचलित हो चुके थे।

अध्वर्यु होता के उपवेशनार्थ होतृषदन में आसन विछाकर 'एहि होतः' इस प्रकार होता को आमन्त्रित करता हैं।[4] होता के वहां आने पर, अध्वर्यु एक समिधा

---

1. आ० श्रौ० (2-2-5-9)
2. वेद=दर्भगुच्छ
   अयं प्राणश्चापानश्च यजमानमपि गच्छताम् ।
   ह्यभूतां पौतारो पवित्रे हव्यशोधनें ॥: (आ० श्रौ० 7-7-8-5)
3. आ० श्रौ० (2-3-10-5)
4. शां० श्रौ० (1-4-4)

काष्ठ को हाथ में लेकर संप्रेषण (आज्ञा) करता है हे होतः। समिध्यमान को बोलो। तदनन्तर होता पञ्चदश सामिधेनी[1] मन्त्रों का पाठ करता है। आपस्तम्ब के मत में जितने सामिधेनीमन्त्र पढ़े जाते हैं, उतनी ही समिधायें रखी जाती हैं। तदनन्तर एक काष्ठ को छोड़कर सभी समिधायें चिन दी जाती हैं।

आपस्तम्बकल्प में अध्वर्यु तूष्णीभाव से जुहू आदि को ग्रहण करता है, अन्यत्र वही आज्यग्रहण करके आहवनीय को ऋजु एवं सतत घृतधारा से आघार करता है। यज्ञायुधग्रहण के पश्चात् उत्तराघार होता है। आघार के पश्चात् जुहू आदि का सम्मार्जन होता है।

होतृवरण—हौत्रकल्पप्रसङ्ग में कथित पूर्वविधान के अनुसार प्रवर श्रावण, प्रत्याश्रवण, श्रोषड्, अभिगूर्ति, याज्या, पुरोऽनुवाक्या आदि मन्त्र होता द्वारा पढ़े जाते हैं। यहीं पर यजमान होता का वरण करता है—

'अग्निर्देवो होता देवान् यक्ष विद्वाँश्चिकित्वान्।"

तब यजमान प्रवरवरण करता है अर्थात् तीन आर्षेय पूर्वज मन्त्रकार ऋषियों का नाम लेता है, अथवा केवल मनु का नाम लेता है। प्राचीनकाल में प्रत्येक वंश के पुरोहित आदि निश्चित थे, उसी आधार पर होतृवरण और प्रवरवरण विहित था।

यहां पर यजमान मानुष और दैव्य (अग्नि) होता का वरण करता था—

'ब्रह्मण्वदा च वक्षद् ब्रह्मणा अस्य
यज्ञस्य प्रवितारोऽसौ मानुषः"

इसमें अग्नि का ही होतृरूप में वरण किया जाता था और मानुषहोता (ब्राह्मण) का नाम लेकर वरण होता था।

प्रयाजा—दर्शपूर्णमास के आरम्भ में यज्ञाग्नि में पांच मन्त्रपूर्वक आहुतियां दी जाती थीं, उन्हें पंच प्रयाजा कहते थे।

शतपथब्राह्मण में इन प्रयाजों के नाम हैं—समिध्, तनूनपात्, बर्हिः इड, और स्वाहाकार।[2] इसी प्रकार यज्ञान्त में तीन आहुतियां दी जाती थी, उन्हें 'अनुयाजा' कहा जाता था ये 'प्रयाजानुयाजा' 'यज्ञाङ्गे[3]' नाम से प्रसिद्ध थे। पञ्चप्रयाजों को अध्वर्यु क्रमशः प्रज्वलिततम अग्नि में होमता था।

प्रधानयाग—तदनन्तर अध्वर्यु आज्य (होमघृत) के दो भाग करता था—आग्नेय और सौम्य। आग्नेय आज्यभाग का होम आहवनीयग्निं के उत्तर पूव ईशानकोण में होता था और सौम्य का हवन आग्नेयकोण में होता था, जहां यज्ञाग्नि

---

1. प्रवो वाज्या अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या देवाञ्जिगाति सुम्नयुः"
   इत्यादि मन्त्र, (ऋग्वेद 3-27-1-11)।
2. श० ब्रा० (1-5-3-1-13)
3. प्रयाजानुयाजो यज्ञाङ्गे (अष्टा० 7-3-62)

में होम होता था, वहां आग निश्चय ही प्रज्वलिततमरूप में जलती थी।[1] प्रधान याग का मन्दस्वर (उपांशु) से अध्वर्यु यजन करता था। पूर्णमासी के दिन यह प्रधानयाग वैष्णव या अग्नीषोमीय या प्रजापत्यमन्त्रों से किया लाता था।[2] यदि यजमान विभूति[3] की इच्छा करता था तो विष्णु का यजन करता था, यदि यजमान भ्रातृव्यान् (शत्रुवान्) होता तो अग्नीषोमीययज्ञ करता था, अन्यथा प्रजापतियाग विहित था।

तदनन्तर अध्वर्यु पार्वणहोम (पूर्णिमापर्वहोम) और नारिष्ठहोम करता था।[4]

तदनन्तर स्विष्टकृत्याग और इडाभक्षण होता था।

इडाभक्षण—अध्वर्यु इडा (यज्ञशेषहविः) में से प्राशित्रभाग ब्रह्मा को देकर, उसके चार या या पांच भाग करता है। अध्वर्यु, होता, ब्रह्मा, यजमान और अग्नीध्रसहित सभी यथाभाग इडा का भक्षण करते हैं। तदनन्तर मार्जनपर्यन्त ऋत्विग्यजमान वहीं बैठे रहते हैं और अन्वाहार्यपाकसंज्ञक विशालभोज का आयोजन किया जाता था, जिसमें खीर आदि पकाई जाती थी, यह भोजन दक्षिणाग्नि में पकाया जाता था, तदनन्तर सभी ऋत्विगादि स्नान करते थे और दक्षिणा ग्रहण करते थे।

अनुयाज—अध्वर्यु की आज्ञा (प्रैष) से आग्नीध्र पुनः समिधाधान करके यज्ञाग्नि जलाता था। ब्रह्मा के कहने पर अध्वर्यु उपभृत् में आज्य करके जुहु में डालता था, तव तीन अनुयाज आहुतियां देता था, पूर्व, मध्य और पश्चिम भाग में।

सूक्तवाक—आश्राव्यादि के अनन्तर सूक्तवाचन और स्वाहाकार होम होता था। तदनन्तर शंयुवाक (स्वस्तिवाचन) किया जाता था। संस्रावहोम के अनन्तर ऋत्विग्गण हविश्शेष का भक्षण करते थे।

पत्नीसंयाज—अध्वर्यु पत्नीसंयाजार्थ गार्हपत्याग्नि की ओर जाकर उपांशु-स्वर से यजन करता था। पत्नीसंयाज में चार देवताओं के लिये यजन (होम) होता था—

सोम, त्वष्टा, देवपत्नी और गार्हपत्याग्नि।[5]

देवपत्नी ये तीन थीं—

राका, सिनीवाली और कुहू।[6]

1. आ० श्रौ० (2-6-18-8)
2. आ० श्रौ० (2।6-18-23)
3. यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ गीता
4. शा० श्रौ० (2-6-19-6)
5. यजति सोमं त्वष्टारं देवानां पत्नीरग्निं गृहपतिमिति (का० श्रौ 3-7-10)
6. राकां पुत्रकामो यजेत्, सिनीवालीं पशुकामः कुहूं पुष्टिकामः (आ०श्रौ०3-3-9।4)

तदनन्तर पिष्टलेपफलीकरणहोम विश्वेदेव, और सरस्वती का यजन होता था।[1]

आपस्तम्ब के अनुसार पत्नी के वेद (कुशगुच्छ) और योक्त्रपाश को होता खोलता है।[2] वेद की कुशाओं को गार्हपत्यवेदिपर्यन्त बिछाया जाता है।

योक्त्रपाशमोचन के पश्चात् सर्वप्रायश्चितआहुतियां की जाती हैं, इसको समिष्टयजुः कहते हैं, इसके देवता है—

ब्रह्म, यज्ञ, मरुत्, ऋभु इत्यादि।

अध्वर्यु अन्तरवेदी में खड़ा होकर समिष्टयजुःहोम करता है, ये नव आहुतियां होती थीं।[3]

विष्णुक्रम—पौर्णमासेष्टि तथा अन्यान्ययज्ञों का अन्तिम प्रधानकृत्य था—विष्णुक्रमसंज्ञककर्म। सभी शास्त्रों में विष्णु के तीनक्रम (पादविक्षेप) प्रसिद्ध हैं, जो वामनावतार में विक्रमविष्णु ने तीन लोकों में रखे थे, परन्तु चार विष्णुक्रमों का विधान किया है—

'दिवि विष्णुरिति' प्रथम क्रम
'अन्तरिक्षे विष्णुरिति' द्वितीय क्रम
'पृथिव्यां विष्णुरिति' तृतीय क्रम
'विष्णोः क्रमोऽसीति' चतुर्थक्रम

यह चौथा क्रम कहां से आ गया?

धूर्तस्वामी के अनुसार यजमान चतुर्थ मन्त्र को चुपचाप (तूष्णी) जपता है, परिक्रमा तीन ही की जाती हैं।[4]

आपस्तम्बकल्प में यजमान विष्णुक्रम के अनन्तर विष्णव्तिक्रम, प्रतिमोक्ष-मन्त्रजप और सूर्यप्रदक्षिणा करके गार्हपत्य और आहवनीय की उपासना करता है।[5]

यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ को विष्णु (यज्ञो वै विष्णुः) कहा गया है, परन्तु विष्णु का यजन बहुत कम होता था, परन्तु लोक में विष्णु का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। शनैः शनै सभी महापुरुषों और पराक्रमी पुरुषों को विष्णु का अवतार माना गया, यथा परशुराम, दत्तात्रेय, दाशरथिराम, पाराशर्यव्यास, देवकीनन्दनकृष्ण और कल्कि। यहांतक कि पुरातनपुराणों में वराह, मत्स्य आदि को ब्रह्मा[6] का रूप

1. विश्वेदवाः सर्वे देवाः (निरुक्त 12-3) आ० श्रौ० (3-3-10-2)।
2. आ० श्रौ० (3-3-10-3)
3. आ० श्रौ० (3-9-1)
4. श० ब्रा० (4-4-1)
5. आ० श्रौ० (4-4-14-6)
6. ब्रह्मा तु सलिले तस्मिन् वायुर्भूत्वा तदाचरन्।
स तु रूपं वराहस्य कृत्वाऽपः प्राविशत प्रभुः (वायु पु० 8-7)

या अवतार माना गया, उत्तरकाल में वे भी विष्णु के अवतार माने गये, यहाँतक कि भागवतपुराण में विष्णु अवतारों की संख्या बढ़कर 24 हो गई।

पिण्डपितृयज्ञ

अर्थ—'पिण्डपितृयज्ञ' समास में तीन पद हैं— पिण्ड, पितृ और यज्ञ। पिण्डों द्वारा साध्य पितृयज्ञ ही पिण्डपितृयज्ञ है। इस यज्ञ में पिण्ड तण्डुलों के होते हैं। पिता, पितामह: और प्रपितामह यहां :पितर' कहे गये हैं। पिण्डपितृयज्ञ में इन तीनों के प्रतिरूपक तीन तण्डुल पिण्ड वनाये जाते हैं और वे ही पितर कहे जाते हैं।

इतिहासपुराणों में पिण्डपितृयज्ञ का ऐतिह्य—महाभारत, शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में वराह गोविन्द को इस यज्ञ का प्रवर्तक वताया है—

इमां हि धरणीं पूर्व नष्टां सागरमेखलाम्।
गोविन्द उज्जहाराशु वाराहं रूपमास्थितः॥[1]

पृथिव्युद्धरण के अनन्तर वाराहमूर्तिधर भगवान् विष्णु ने पिण्डपितृयज्ञ का प्रवर्तन किया—

प्राप्ते चाह्निककाले तु मध्यदेशगते रवौ।
दष्ट्राविलग्नांस्त्रीन् पिण्डान् विधाय सहसा प्रभुः।
स्थापयामास वै पृथिव्यां कुशानास्तीर्य नारद।
स तेष्वात्मानमुदिश्य पित्र्यं चक्रे यथाविधि।
आश्रिता धरणीं पिण्डास्तस्मात् पितर एव ते।
त्रयो मूर्तिविहीना वै पिण्डमूर्तिधरास्त्विमे।[2]

हरिवंशपुराण में उल्लिखित है कि प्रजापति कश्यप द्वारा उत्पादित इन्द्र, वरुण आदि ने पिता की ही अवज्ञा की, तव प्रजापति ने उनको शाप दिया कि हे मूर्खों। तुम्हारा ज्ञान नष्ट हो जायेगा, क्योंकि तुमने मेरी पूजा (यजन) नहीं की केवल आत्मपूजा में रत रहे।[3] "तुम भी अपने पुत्रों से ही ज्ञान प्राप्त करोगे।"[4]

---

1. म० शा० (345-12)
2. म० शा० (अ० 345)
3. देवानसृजत ब्रह्मा मां यक्ष्यन्तीति भार्गव।
   तमुत्सृज्य तथात्मानमयजंस्ते फलार्थिनः।
   ते शप्ता ब्रह्मणा मूढ़ा नष्टसंज्ञा दिवौकसः।
   (हरि० पु० 1-18-22-23)
4. पुत्रांश्च परिपृच्छध्वं ततो ज्ञानमवाप्स्यथ॥
   (हरि० पु० 1-1-18-25)

तथा इन्द्र वरुणादि के पुत्र भृगुवसिष्ठविश्वामित्रादि ने उन देवों को वेद पढ़ाया और ज्ञान दिया—

जैसा कि उल्लिखित है—

यद्ध वा असुरैर्महासंग्रामं संयते तद्ध वेदान् निराचकार,
तान् ह विश्वामित्राद् अधिजगे ।
ततो हैव कौशिक ऊचे ।।[1]"
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ।।[2]
ततस्ते मन्त्रदाः पुत्राः पितृत्वमुपपेदिरे ।
पुत्राश्च पितरश्चैव परस्परमपूजयन् ।।[3]

निम्नलिखित सप्तर्षि ही आदिम पितर थे—

क्रतुर्वसिष्ठः पुलहः पुलस्त्योऽत्रिस्तथाङ्गिराः ।
मरीचिस्तु तथा धीमान् देवगन्धर्वसेविताः ।।[4]

पितृपूजा और श्राद्ध—कुछ विद्वानों के मत में पिण्डपितृयज्ञ का अपर नाम श्राद्ध है, जैसा गोभिलगृह्यसूत्र में वर्णित है[5] श्राद्ध का प्रवर्तन भारतवर्ष में वैवस्वत मनु ने किया, जिससे वह श्राद्धदेव कहलाये ।[6]

यजनकाल—अमावस्या के अपराह्ण में दर्शेष्टि से पूर्व पिण्डपितृयज्ञ किया जाता है—

"पूर्वाह्णे वै देवानां मध्यदिनो मनुष्याणामपराह्णः पितृणामिति"
(श० ब्रा० 2।4।2।8)

यज्ञसंभार—इस यज्ञ के लिये पौर्णमासयज्ञवत् पात्रसंसादनादि कर्म होते हैं। सारतण्डुल के अपक्वश्रपण से दक्षिणाग्नि में मेक्षण द्वारा होम किया जाता है, सोम,

1. जै० ब्रा० (2-79)
2. म० स्मृ० (2-15-1)
3. म० शा० (345-9)
4. हरि पु० (1-17-15)
5. Gobhil Seems to look upon the Pindapitrayajna is itself a Sradha (D.R. in India, p. 105)
6. अथैतन्मनुः श्राद्ध शब्दं कर्म प्रोवाच, प्रजानिश्श्रेयसाय ।
(आ० ध० 2-7-1-1)
प्रवर्तयति श्राद्धानि नष्टे धर्मे प्रजापतिः ।
तस्मादेवं स्वधर्मेण श्राद्धदेवं वदन्ति वै ।। (हरि० पु० 11-1)

यम और अग्नि के लिये तीन आहुतियां दी जाती हैं। आपस्तम्ब के मत में यमाहुति का विधान नहीं है --**न यमाय जुहोतीत्येके**' इसके मूल में यह भावना हो सकती है कि यम (वैवस्वत) भारतवासियों का पितर नहीं था, वह पारस्यदेश का राजा था—

मनुरेवास्मिल्लोके यमोऽमुस्मिन् (मै० मं० 1।6।32)

भारतवर्ष में श्राद्धकल्प का प्रवर्तन वैवस्वत मनु ने किया था।

यजमान प्राचीनावीति होकर वेदी में तीन उदकाञ्जली डालता है—

मार्जयन्तां मम पितरो मार्जयन्तां मम पितामहा

मार्जयन्तां मम प्रपितामहाः ।।

यदनन्तर वह रेखाओं पर छिन्न दर्भतृणों को रखकर उन पर तीन पिण्डों को रखता है अपना नाम लेते हुये 'मैं अमुक हूँ'।

पितृभ्यः पृथिवीसद्भ्यः' प्रथम पिण्ड को रखता है।

'स्वधा पितृभ्योऽन्तरिक्षसद्भ्यः,' द्वितीय पिण्ड को रखता है।

स्वधा पितृभ्यो दिविसद्भ्यः' इस प्रकार तीसरे पिण्ड को रखता है।

प्रदक्षिणा करके तदनन्तर पिण्डों की तरफ मुख करके जपता है—

'अमीमदन्त पितरस्सोम्याः' (आ० श्रौ० 1-3-9-5)

तब वह पिण्डों की ऊपर जल डालना है और उनको सूँघता है और पिण्डों का अञ्जनादि किया जाता है।

पुत्रकामा यजमानपत्नी मध्यपिण्ड का भक्षण करती है।

दान देकर पितृपिण्डों को जल में प्रवाहित कर दिया जाता है।

दर्शेष्टि

अनुष्ठानकाल—चन्द्रमा के अदृश्य होने पर चतुर्दशी या अमावस्या को शाखाहरण करके दर्शेष्टि का विधान है आपस्तम्बकल्प में यजमान सान्नाय करने पूर्व पलाश या शमी को ग्रहण करता है—

इमां प्राचीमुदीचीमिषमूर्जमभिसंस्कृताम् ।

बहुपर्णामशुष्काग्रां हरामि पशुपामहम् ।।[1]

यजमान शाखा या दर्भों से गोवत्स को गौ से पृथक करता है, उसको वत्सापाकरण कहते हैं।

---

1. आ० श्रौ० (1-12-1)

आपस्तम्ब ने विस्तार से कुश काटने का विधान लिखा है, इन कुश (दर्भों) से शुल्ब, वेद, उपवेष, पवित्र प्रस्तर नाम के विभिन्न कुशगुच्छ बनाये जाते हैं।

इधनादि को बांधने के लिये बर्हिः (कुश) के शुल्ब (रज्जु) बनाये जाते हैं। शुल्बों से इध्मकाष्ठों को बांधकर किसी वाहन (शकटादि) पर रखते हैं। वत्सापकरणशाखा से उपवेश बनाया जाता है, जिससे कपालोपधानादिकर्म किये जाते हैं।

दर्भों का हस्तप्रादेशमात्र त्रिवृत्कृत्त्रिशलाकगुच्छ शाखा में संश्लिष्ट करके बनाया जाता है, उसे 'पवित्र' कहते हैं।

यवागूहोम—सन्नाय बनाने का इच्छुक यजमान अमावस्या रात्रि को यवागू से होम करता है[1]। उस रात्रि को कुमारों को भी दूध नहीं मिलता।[2] सायंकाल, अग्निहोम के पश्चात् गोदोहनकर्म किया जाया है। तदनन्तर कुम्भी में गार्हपत्याग्नि पर सान्नाय (दधि-दुग्ध) पकाया जाया है। प्रातःकाल भी पूर्ववत् सान्नाय बनाया जाया है। तदनन्तर पौर्णमासयज्ञवत् इस दर्शेष्टि में यजन होता है। सान्नाय से गतश्री पूर्ववत् महेन्द्रयज्ञ करता है।

दाक्षायणयज्ञ

इस यज्ञ की अपनी विशिष्टपुरातनपरम्परा थी। इसका विधान प्रायेण दर्शपौर्णमासवत् ही था। आपस्तम्ब ने इस यज्ञ के अन्य नाम ये बताये हैं—

(1) ऐडादधयज्ञ

(2) सार्वसेनियज्ञ

(3) वसिष्ठयज्ञ

(4) शौनकयज्ञ[3]

उपर्युक्त व्यक्तियों ने कालक्रम से इस दाक्षायण का अनुष्ठान किया था।

---

1 तण्डुलैः शिथिलपक्वायवा यवागूरित्युच्यते।

2. नास्यैतां रात्रिं कुमाराश्चन पयसो लभन्ते
(आ० श्रौ० 1-411-2)

3. ऐडादधस्सार्वसेनियज्ञो वसिष्ठयज्ञः शौनकयज्ञश्च व्याख्याताः
(आ० श्रौ० 3-5-17-2)

शतपथब्राह्मण में इस दाक्षायणयज्ञ की परम्परा इस प्रकार उल्लिखित है—"प्रजापति दक्ष ने सर्वप्रथम इस यज्ञ का यजन किया। दक्ष ने ही सर्वप्रथम इस यज्ञ का यजन किया। कुछ लोग इसको वसिष्ठयज्ञ कहते हैं, क्योंकि इस यज्ञ को वसिष्ठ ने किया। तदनन्तर प्रतीदर्श श्वैक्न ने इस यज्ञ को किया। तत्पश्चात् सुप्ला साञ्जय ने इस यज्ञ को किया, उसी का नाम सहदेव साञ्जय था। तदनन्तर देवभाग श्रौतर्ष ने यह यज्ञ किया, वह कुरुओं और सृञ्जयों (पाञ्चालों) दोनों का पुरोहित था। तदनन्तर पर्वतपुत्र दक्षपार्वति ने इस यज्ञ को किया।"[1]

स्वर्गकाम यजमान दाक्षायणयज्ञ का अनुष्ठान करता था।[2] इसको पन्द्रह वर्ष तक करने तक विधान था। आपस्तम्ब के अनुसार पय और दधिमिश्रित पयस्या से यजन किया जाता था। यह यज्ञ भी पौर्णमासी के पश्चात् प्रतिपदा का हवि बनाकर, इन्द्र के लिये पुरोडाश, दधि और पयस्या का होम होता था। पूर्वपौर्णमासी को अष्टाकपालआग्नेय, अग्नीषोमीय एकादशकपालपुरोडाश, उत्तरापौर्णमासी को आठ आग्नेयकपाल, एकादशऐन्द्राग्नकपाल इत्यादि पकाये जाते हैं, मित्राव-रुण के लिये आमिक्षा से यजन होता है। पयस्या का पानी निकालकर वाजिन बनाया जाता है, उससे वाजिनयाग होता है। यज्ञान्त में शेषवाजिन को होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, और अग्नीध्र भक्षण करते हैं।

यह दाक्षायण इसी प्रकार वर्षपर्यन्त प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमा को किया जाता था। इस यज्ञ की दक्षिणा दाक्षायण (स्वर्ण) होता था।

उपर्युक्त यज्ञों के विकार थे वैमृधेष्टि, और सांकप्रस्थीययाग।

आपस्तम्बकल्प के अनुसार वैमृधेष्टि को यजमान भ्रातृव्य से अपनी रक्षा का इच्छुक या उसको मारने की इच्छा से करता था।[3] यहीं पर (आ० श्रौ० 3-5-15-7,8,11 इत्यादि) आपस्तम्ब ने अन्य इष्टियों का विधान (इन्द्रार्थ) किया है। सांक्रप्रस्थीय यज्ञ का भी यही विधान है।

आग्रयण

अर्थ—जिस कर्म से अग्र अयन (भक्षण) होता था, उसे 'आग्रयण' कहते थे।[4] यह नवसस्येष्टियज्ञ था, जिस ऋतु में जो अन्न उत्पन्न होता था, सर्वप्रथम, इस यज्ञ

1. श० ब्रा० (2-4-1)
2. आ० श्रौ० (3-5-17-4)
3. आ० श्रौ० (3-5-15-4)
4. अग्रे अयनं भक्षणं येन कर्मणा तदाग्रयणम्'
(आश्व० श्रौ० टीका 2.9-1)

में उसी का भक्षण होता था।[1] प्राचीनभारत में, कुछ यज्ञ ऋतुयज्ञ या भैषज्यज्ञ किये जाते थे।[2] वक्ष्यमाण यज्ञ इसी प्रकार के भैषज्ययज्ञ थे। पण्डितवर रघुनन्दन के अनुसार यह आग्रयण, इसी प्रकार का भैषज्ययज्ञ था।[3]

यजनकाल—आपस्तम्बकल्प के अनुसार वर्षा में श्यामक अन्न से, शरद् में व्रीहि (चावल), वसन्त में यवों से अथवा वेणुयवों से यजन करना चाहिये। आग्रयण भी पूर्णमासी या अमावस्या के दिन किया जाता था। यजमान निर्वपणकाल में आग्नेयाष्टाकपाल को पकाता था, जो पुराने चावलों का होता था। नवान्न का ऐन्द्राग्नद्वादशकपालपुरोडाश, वैश्वदेवचरु दूध में पकाया जाता तथा द्यावापृथिवी एककपाल से यजन किया जाता है, इस समय पांच आज्याहुतियां दी जाती हैं इस समय हरित यव, हरिचणक, और हरितगोधूम का यथेच्छ भक्षण किया जाता था। वेणुयवों से इष्टि का भी विधान था।

दर्शपौर्णमास में यज्ञ करता हुआ यजमान चार ब्राह्मणों को भोजन कराता था। दक्षिणा में वास, दधि मन्थ, मधुमन्थ, मधुपर्क और पिङ्गाक्षगौ दी जाती थी।

बह्वृचों के अनुसार आग्रयण में व्रीहि से यजन होता था।

अग्न्याधान

अनुष्ठेयकाल—अग्निमन्थन करके अग्न्यागारों में अग्निस्थापन को अग्न्याधान कहा जाता था। वस्तुतः अग्नि ही यज्ञ का मूलतत्व था, जिसका सर्वप्रथम प्रणयन किया जाता था, परन्तु वेदसंहिताओं में अग्न्याधेयमन्त्र दर्शपूर्णमास के अनन्तर मिलते हैं अतः श्रौतसूत्रों में भी वही क्रम रखा गया। वास्तव में अग्न्याधान दर्शपूर्णमास से पूर्व का कृत्य था।

---

1. नानिष्ट्वाग्रयणेनाहिताग्निर्नवस्याश्नीयात्।
   (आ० श्रौ० 6-8-29-2)
2. "भैषज्ययज्ञा वा एते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते
   तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यते" (श० ब्रा०)
   'भैषज्यकृतो ह वा एवं यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति
   (छा० 3-4-17-18)
3. होली ऐसा ही सार्वजनिक भैषज्ययज्ञ है, जो संवत्सर के अन्त में किया जाता है। यह नवसस्येष्टि भी कहलाती है। नवसस्य का नाम होला है। होली में हरे भुने चने को होला कहते हैं। यह होली एक प्रकार का भैषज्ययज्ञ है।"
   (वैदिकसम्पत्ति पृ० 353)

अग्न्याधान पूर्णमासी या अमावस्या या कुछ विशिष्टनक्षत्रों में किया जाता था। अमावस्या पूर्णिमा का नक्षत्रों के साथ साहचर्य नहीं था, अतः विकल्प होता था नकि काल का समुच्चय।

आपस्तम्बकल्प के अनुसार ब्राह्मण कृत्तिकानक्षत्र में अग्न्याधान करके मुख्य एवं ब्रह्मवर्चस्वी होता है। रोहिणीनक्षत्र में आधान करके सर्वप्रकार के उत्पादन का फल प्राप्त करता है। मृगशीर्षनक्षत्र में ब्रह्मवर्चसकाम को आधान करना चाहिये। जो पहिले भद्र (पुण्यवान् या सज्जन) था, पुनः पापी हो गया, वह पुनर्वसु को आधान करे। जो चाहे कि मेरी सन्तान दानी बने वह पूर्वफाल्गुनीनक्षत्र में अग्न्याधान करे।[1] शत्रुविजिगीषु क्षत्रिय चित्रानक्षत्र में अग्न्याधान करे।

वसन्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय ग्रीष्म में, वैश्य और रथकार वर्षा में अग्न्याधान करते थे। सोमयाजी ऋतुनक्षत्र को अनादृत्य करके आधान कर सकता था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—'ब्रह्मैव वसन्तः, क्षत्रं ग्रीष्मः विडेव वर्षास्तस्माद् ब्राह्मणो वसन्ते आदधीत।

शालीन (शालानिवासी) और यायावर के लिये भी अग्न्याधान का विधान आपस्तम्ब ने किया है, यायावर नाम के कठोरव्रती ब्राह्मण या ऋषि होते थे, जैसा कि कल्पसूत्रकार बौधायन ने लिखा है।[2] महाभारत के आदि में भी यायावरों का उल्लेख है।[3]

अग्न्यागार—अग्न्याधान के चार आगार बनाये जाते हैं—गार्हपत्यागार, आहवनीयागार, सभ्याग्निगृह, और आवसथागार। सभ्यागार में द्यूतक्रीडा का वधान था।

संभारसंग्रह—आपस्तम्ब ने पूर्वपर्ववत् केशश्मश्रुवपन का विधान किया है। पत्नी का भी केश छोड़कर नखकृन्तनादि होता था, तदनन्तर स्नात जायापत्नी क्षौम वास धारण करते थे।

---

1. कृत्तिकासु ब्राह्मण आदधीत मुख्यो ब्रह्मवर्चस्वी भवति, रोहिण्यामाधाय सर्वान् रोहान् रोहति; मृगशीर्षे ब्रह्मवर्चसकामो यज्ञकामो वा; यः पुरा भद्रस्सन् पापीयान् स्यात्स पुनर्वस्वोः; पूर्वयोः फल्गुन्योर्यः कामयेत दानकामा मे प्रजाःस्युरिति,"
(आ० श्रौ० 5-1-3,5,7,8,12)।
2. तत्रोदाहारन्ति यायावरा ह वै नामर्षय आसंस्तेऽध्वन्याश्रयंस्ते
(बौ० श्रौ० 3-1-13)
3. यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः (म० 1-41-16)

यजमानव्रतग्रहण करने के अनन्तर मांसमैथुनवर्जन करता था, रात्रि में उसे ःाणा या तूणव से जाग्रत रखा जाता था और वह वाचंयम होता था।

आपस्तम्ब के मत से अध्वर्यु प्रातः यजमान को आश्वत्थी दो अरणियाँ देता था, वाजसनेयमत से अशमीगर्भ की अरणियाँ होती थीं।[1] तदनन्तर यजमान निम्न वस्तुओं (संभारों) का संग्रह करता था। वाजसनेयसंप्रदाय में संभारसंभरण का विधान नहीं था।[2] संभार होते थे—सिकता, ऊषा (ऊसर भूमि की मिट्टी), आखुकरीष (चूहेबिल की मिट्टी, वपा, सूद (चिकनी मिट्टी), सूअर द्वारा खोदी गई मिट्टी,[3] पाँच सुवर्णखण्ड, पाँच रजतखण्ड, पञ्चताम्रखण्ड और एक लोहशकल। पाँच वानस्पत्य संभार थे— अश्वत्थ और उदुम्वर के पर्ण (पत्र), विकंकत और पुष्करपर्ण (कमल), बकरा गार्हपत्यागार में बाँधा जाता था, जो यज्ञान्त में आग्नीध्र को दे दिया जाता था।

यजमान चतुश्शराव ब्रह्मौदन पकाता था, जिसको ऋत्विग्गण खाते थे, तदनन्तर दान दिया जाता था। यजमान वर्षपर्यन्त ब्रह्मौदन एवं वरदान देता था। तददन्तर वह व्रतग्रहण करते हुये वाचंयम होता हुआ कहता था—

"अनृतात्सत्यमुपमि मानुषाद्दैव्यमुपैमि
दैवीवाचं यच्छामि इति।[4]"

तदनन्तर रात्रिजागरण होता था। प्रातः यजमान यज्ञस्थान पर हिरण्य-शकलविधान, आखूत्करनिवपन और शर्करानिवपनादि करता था। अग्नि में अरणियों को तपाता था। तदनन्तर अरणियों से अग्निमन्थनकर्म किया जाता। घोड़ों को आगे खड़ा करके शमीगर्भ अरणियों से अग्निमन्थन किया जाता था, अरणियों से धूम निकलते ही कौशिकसाम[5] का गान होता था। अग्नि उत्पन्न होने पर गौ या अनड्वान् वरदान दिया जाता था। तदनन्तर निम्न पाँच अंगारों में अग्नि स्थापित की जाती थी—गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभ्य और आवसथगृह। प्रत्येक

---

1. अशमीगर्भस्येति वाजसनेयकम् (आ० श्रौ० 5-1-12-3)
2. न संभारान् संभरेदिति वाजसनेयकम् (आ० श्रौ० 5-1-1-6)
3. आ० श्रौ० 5-2-7-17)
4. आ० श्रौ० (5-2-8-1)
5. अरण्योर्निहितो जातवेदा इत्यादि।

यजमान अपने वंशकर ऋषि का नाम लेकर अग्निस्थापना करता था।[1] अन्य प्रजा आदित्य का नाम लेती थी और राजा वरुण का नाम लेता था, अन्य क्षत्रिय इन्द्र का नाम लेता था, वैश्य मनु का और रथकार ऋभु का नाम लेता था। ये वरुण आदि आदित्य प्रजाओं के मूलपुरुष या प्रजापति थे, यह ऐतिह्य भी ध्यातव्य है।[2]

तीनों यज्ञाग्नियों की स्थापना के पश्चात् यजमान तीन आश्वत्थी समिधायें आहवनीय में डालता है और उसमें अग्निहोम करता है तदनन्तर वरदान (दक्षिणा), व्रतविसर्जन आदि कर्म होते हैं। सप्तवती ऋचा से पूर्णाहुति होती है।

आग्नेयीष्टि करने के अनन्तर सभ्यागार में द्यूत का विधान है गौ से द्यूत खेला जाता था, गोविजेता[3] चावल खरीदकर ओदन पकाता था, जिसको सभी सभासद खाते थे। आग्नेयीष्टि में 24 गायें या 6 या 12 गायें विभक्त करके ऋत्विक्-गण को दी जाती थीं।

आहिताग्नि, नित्य ब्रह्मचारी, अग्निधारी, क्षीरहोमी और अग्निसमीपशायी होता था।

किसीप्रकार अग्न्याधान भंग होने पर, कल्पसूत्रों में पुनराधान का विधान भी है, यह प्रायः पुनर्वसुनक्षत्र में किया जाता था।

तैत्तिरीयसम्प्रदाय में तृतीय आधान का विधान भी था, जिसका उल्लेख आपस्तम्ब, भारद्वाज, आलेखन, आश्मरथ्य आदि ने किया है।[4]

(अग्न्युपस्थानम्)

अग्न्युपासना को ही अग्न्युपस्थान कहा जाता था। 'उपप्रयन्तोऽध्वरमिति' छः ऋचाओं का वाचन करता हुआ यजमान अग्नि के सामने खड़ा हो जाता था।

---

1. यथा—भार्गव ब्राह्मण कहता था – (भृगूणांत्वा देवानामिति)
   आङ्गिरस ब्राह्मण कहता था—अङ्गिरसां त्वा देवानामिति
2. त्रयः प्राजापत्या देवा मनुष्या असुराः (बृ० उ० 472-1)
   'आदित्या इमाः प्रजाः' (काठकसंहिता, पृ० 102),
   द्वय्या ह वा इदमग्रे प्रजा आसुः आदित्याश्चैवाङ्गिरसश्च विवस्वानादित्य-स्तस्येमाः प्रजाः (श० ब्रा० 3-1-3-5)
   ऐडीश्च वा इमाः प्रजाः (काठक० 1-5-10)
3. 'व्रीहिभ्यो गा दीव्यताहिसन्तः परुंषि विशसत'
   (आ० श्रौ० 5-6-19-1-4)
4. 'पुनर्वस्वोरादधीत द्वे पुनराधेयस्य नक्षत्रं यत् पुनर्वसू'
   (तै० सं 1-5-1-4)

   आ० श्रौ० (5-8-29-14)

तदनन्तर वह 'ममाग्ने वर्चों विहवेष्वस्त्विति' इत्यादि चार ऋचाओं से जाप कर आहवनीयोपस्थान करता है। यही पर वात्सप्रसूक्त से क्षुल्लकोस्थान होता है।[1] अथवा गोसूक्त या अश्वसूक्त से दोनों अग्नियों का उपस्थान होता है।

अग्निहोत्र—अग्न्याधान के अनन्तर यजमान तीनों वैतानिकाग्नियों की सिद्धि होने पर सांय प्रातः होम करता है, उसे ही अग्निहोत्र कहा जाता है। शतपथ ब्राह्मण में अग्निहोत्र को दीर्घसत्र कहा है जो जीवनपर्यन्त करना चाहिये— "दीर्घसत्रं ह वा एते उपयन्ति येऽग्निहोत्रं जुह्वति[2]" तैत्तिरीयसंहिता में अग्निहोत्र में 'परमयज्ञ' कहा है परमेष्ठी प्रजापति (कश्यप) ने जीवनपर्यन्त यह 'परमयज्ञ' किया, जिससे वे 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध हुये—

"परमेष्ठिनो व एष यज्ञोऽग्र आसीत् तेन स परमां काष्ठामगच्छत्।"[3]

ऐतरेयब्राह्मण के मत में सूर्योदय के साथ ही प्रातरग्निहोम करना चाहिये।[4]

होमद्रव्य ब्राह्मणग्रन्थों, कल्पसूत्रों और पुराणों में अनेक होमद्रव्य समाम्नात है, वहाँ पर पयः (दूध) ही प्रमूख होमद्रव्य कहा गया है। जैमिनीयब्राह्मण (1-19) में जनकयाज्ञवल्क्यसंवाद में याज्ञवल्क्य ने पय, व्रीहियव, धान्य, आरण्य ओषधियाँ, जल और श्रद्धा को होमद्रव्य बताया है। शतपथब्राह्मण में दश ग्राम्य धान्य होमद्रव्य कहे हैं—

व्रीहियव, तिलमाषा, अणुप्रियंगु, गोधूम मसूर, खल्व और खलकुल।[5]

वायुपुराण में चौदह औषधियाँ हवींषि बताई गई हैं—

व्रीहियव, माष, गोधूम, अणु, तिल, प्रियंगु कुलत्थिका, श्यामक, नीवार, जर्ति, गवेधुका, कुरुविन्द, वेणुयव, ओर मर्कट।[6]

अग्निहोत्र में अग्नि ही मुख्य देवता और प्रजापति अंग देवता था। यह अग्निहोत्र यजमान एकाकी करता था अथवा स्वयं अशक्त होने पर किसी ब्राह्मण ऋत्विक् से कर सकता था, इसका एक ही ऋत्विक् विहित था।[7]

---

1. य० वे० (3-11)
2. श० ब्रा० (2-4-1-1)
3. तै० सं० 1-14-2)
4. ऐ० ब्रा० [25-4)
5. श० ब्रा० (14-6-3-13)
6. वायुपुराण (अ० 8)
7. तै० सं० (2-3-16)

यजमान या अध्वर्यु उपवेष द्वारा गार्हपत्याग्नि से आहवनीयाग्नि और दक्षिणाग्नि का उद्धरण करता था। नवगृह (नवावसान) में दक्षिणाग्नि उद्धरण का विधान था।

आपस्तम्ब ने अग्निशोधन और परिसमूहन को अलंकरण कहा है है, यह कार्य मन्त्रजपपूर्वक सांयप्रातः करना चाहिये था।

अग्निहोत्र के लिये धेनुविशेष को 'अग्निहोत्री' कहा जाता था, जिसका पय होमकार्य के लिये प्रयुक्त होता था।

होम करने का समय निश्चित था। प्रातःहोम अनुदित सूर्य के समय, सांयं होत्र नत्रक्ष दिखाई देने से पूर्व करना चाहिये।[1] मनु ने उदित, अनुदित और समयाध्युषित में होम का विधान किया है।

'उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।[2]

प्रभातकाल में जब सूर्योदय से पूर्व, सूर्य दिखाई न पड़े, उसे समयाध्युषित' कहा जाता था।[3] आपस्तम्ब ने इसको ही समयाविषित[4], कहा है।

हवि को पकाने के पश्चात् वैकंकत स्रुच् से उसका उन्नयन किया जाता था। आहवनीयाग्नि में पालाशी समिध डालकर होम होता था। यह होम प्रातः विना भोजन किये ही किया जाता था। इस सम्बन्ध में आचार्य ने प्राचीन बह्वृच ब्राह्मण उद्धृत किया है कि सभी अग्नियाँ होमार्थ ही आधान की जाती हैं, इस समय चार आहुतियाँ गार्हपत्य में, चार आहुतियाँ अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) में और दो आहवनीय में दी जाती थीं। इस प्रकार दश आहुतियां दी जाती थीं।[5]

अग्निहोत्र के साथ आपस्तम्ब ने काम्यहोमों का विधान किया है। पशुकाम यजमान सांय प्रातः दो गायों के दूध से होम करें, जिस यजमान के पशुओं को ज्वर-

---

1. यावत् सम्यङ् भाव्यन्ते तमस्यृक्षाणि सर्वतः।
   न च लोहितोपापैति तावत्सायं च प्रातश्च हूयते ॥ (कर्मप्रदीप 1-3-3)
2. म० स्मृ० (2-15)
3. रविर्यावन्न दृश्यते समयाध्युषितं तत् (का० श्रौ० भाष्य, पृ० 415)
4. उषस्युपोदयं समयाविषिते उदिते वा प्रातः (आ० श्रौ० 6-1-49)
5. दश सपद्यन्ते, दशाक्षरा विराट्, विराजा यज्ञसंमित इति बह्वृचब्राह्मणं भवति (आ० श्रौ० 6-4-13-9)

रूपी रुद्र मारता या सताता था, वह भी पूर्वोक्त प्रकार से दो गायों के दूध से होम करता था। इन्द्रियकाम यजमान दधि से, ग्रामकाम यवागू से, अन्नादकाम ओदन से, ओजस्काम तण्डुलों से, यशःकाम मांस से और ब्रह्मवर्चस्काम सोम से होम करे।[1]

(चातुर्मास्ययज्ञ)

चार मास के अन्तर से जो ऋतुयज्ञ या भैषज्ययज्ञ[2] किये जाते थे, उनको 'चातुर्मास्य' कहा जाता था। फाल्गुनीपूर्णिमा के दिन वैश्वदेवयज्ञ, आषाढ़ीपूर्णिमा के दिन वरुणप्रघासयज्ञ, और कार्तिकीपूर्णिमा को साकमेधयज्ञ किया जाता था। चतुर्थ शुनासीरीय यज्ञ फाल्गुनशुक्लप्रतिपदा के दिन किया जाता था। यह एक कृषियज्ञ था। शुनः वायु को कहते हैं और 'सीर' आदित्य का नाम है, इन दोनों को मिलाकर 'शुनासीर' कहते थे -

'शुनो वायुः शु एत्यन्तरिते, सीर आदित्यः सरणात् इति।'[3]
वायुः शुनः सूर्य एवात्र सीरः।
शुनासीरौ वायुसूर्यौ वदन्ति॥
शुनासीरौ यास्क इन्द्रं तु मेने।
सूर्येन्द्रौ तौ मन्यते शाकपूणिः॥"[4]

शुनासीर कृषिदेवता थे, अतः शुनासीरीय एक कृषियज्ञ था, जो कृषि की समृद्धि से किया जाता था। कीथ ने इस सम्बन्ध में ओल्डनवर्ग का मत उद्धृत किया है।

वैश्वदेवपर्व—मधुमाधव या चैत्रवैशाख वसन्तऋतु के मास होते हैं, चैत्री पौर्णमासी को यह यज्ञ प्रारम्भ किया जाता था। आरम्भणीयेष्टि के साथ वैश्वानरपार्जन्येष्टि की जातीं थी, जिसमें द्वादश वैश्वानरकपाल और पार्जन्यचरु की हवि से यज्ञ किया जाता था।

---

1. आ. श्री. (6-4-15-1)
2. भैषज्ययज्ञा वा एते।
   ऋतुसंधिषु व्याधिर्जायते तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते (श० ब्रा०)
3. निरुक्त (9-40)
4. बृहद्देवता (5-8)
5. It is, according to Oldenberg, on offering to geneuses of the plough to secure its good working, (T. S. Eng. Trans. by A.B. Kieth p, cv).

वश्वदेव पर्व में आग्नेय अष्टकपाल पुरोडाश, सौम्यचरु, सावित्र अष्टाकपाल या द्वादशकपाल पुरोडाश—सारस्वतचरु पौष्ण पैष्टचरु. सप्तकपाल मारुत पुरोडाश, वैश्वदेवी पयस्या और द्यावापृथिवी एककपाल पुरोडाश—इस प्रकार आठ हवियाँ होती थी।

इस यज्ञ में पशुबन्धयज्ञ के समान अग्निप्रणयन, वत्सापाकरण और वाजिनयज्ञ एवं प्रयाज-अनुयाज होते हैं। प्रथमज वत्सदक्षिणा और तीन समष्टियजुर्होम होता है।

श्येणी[1] शलली से यजमान का केशवपन (बालकाटना) होता है। यह लौह क्षुर में लगाई जाती थी।

वरुणप्रघास—इस पर्व में नवयवों का भक्षण किया जाता है, यव वरुण के माने जाते थे, इसलिये इस यज्ञ को वरुणप्रघास कहा जाता था—

'वैश्वदेवेन वै प्रजापति' प्रजा: ससृजे ता अस्य प्रजा: सृष्टा वरुणस्य यवान् जक्षुर्वरुण्यो ह वा [अग्रे यवास्तद्यन्नमेव वरुणस्य यवानप्रादंस्तस्माद्वरुणप्रघासा नाम।[2]"

वरुणप्रघास का अनुष्ठान अषाढ़ की शुक्लप्रतिपदा या श्रावण की पौर्णमासी के दिन किया जाता था। इस यज्ञ में पाँच ऋत्विजों का प्रावधान होता था—होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, आग्नीध्र, और प्रतिप्रस्थाता इस यज्ञ में दो वेदियाँ होती हैं—उत्तरवेदी और दक्षिणवेदी। उत्तर वेदी में अध्वर्यु और दक्षिणवेदी में प्रतिप्रस्थाता यजन करता था। उत्तरवेदी में पशुबलि आदि हिंसामयकर्म भी होता था। यद्यपि वरुणप्रघास में हिंसा का विधान नहीं था। दोनों वेदियों का अन्तराल प्रादेशमात्र होता था, दक्षिणवेदी दर्शपौर्णमासयज्ञ के समान, उत्तरवेदी रथप्रमाणमात्र होती थी।

इस यज्ञ में सर्वप्रथम कच्चे जौ के आटे के करम्भपात्र दीपसदृश बनाये जाते थे, उनमें ही पिष्ठयव के मेष और मेषी बनाई जाती थी। इनी मेषमेषियों (आटे की मूर्तियों) को एकादशकपाल पर पकाया जाता था।

यज्ञ से पूर्व प्रतिप्रस्थाता यजमान पत्नी से, जारसम्बन्धी प्रश्न पूछता था—'केन पुंसा सह त्वं चरसि', पत्नी प्राय: लज्जावश किसी जारादि का नाम नहीं लेती थी, जारकथन पर वह वरुणपाश में बाँध दी जाती थी। करम्भपात्रों को शूर्प में

---

1. शल्यकमृग की कटंकमयीसूची को शलली कहते थे, वह तीन स्थानों पर श्वेतकबुंरा होती थी।
2. श० ब्रा० (2-4-3-1)

रखकर, शिर पर उठाकर, दक्षिणाग्नि में होमा जाता था। तदनन्तर वाजिनयाग करके ऋत्विक्‌यजमान इडाभक्षण करते हैं समिष्टयजुर्होम के अनन्तर दम्पती पयस्याशेष होम, अवभृथ एवं दक्षिणादान का विधान है।

साकमेधपर्व—यह पर्व कार्तिकी पूर्णिमा के दिन अनुष्ठित किया जाता है, इसके अन्तर्गत इतनी इष्टियां हैं—अनीकवतीष्टि, सान्तपनेष्टि, गृहमेधीयेष्टि, दर्विहोम, क्रीडनीयेष्टि, अदितीष्टि, महाहविः, पितृयज्ञ और त्रैयम्बकेष्टि।

इन इष्टियों में क्रमशः आग्नेय अष्टाकपालपुरोडाश, मारुतसान्तपनचरु, प्रात,दर्विहोम, मारुतक्रीडियों को सप्तकपाल पुरोडाश और अग्न्यादि के लिये, अष्टाकपालमयमहाहविः किये जाते हैं। पितृयज्ञ में सोमवन्त, बर्हिषद और अग्निष्वात्त पितरों के लिये यजन किया जाता है।

त्र्यम्बकहोम में अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका इन तीन रुद्रस्वसाओं के साथ रुद्र का होम किया जाता है। ये तीनों रुद्र की अम्बा भी कही जाती हैं। यज्ञ प्रधानतः यह मन्त्र

'एष ते रुद्र भागस्सहस्वस्राऽम्बिकया तं जुषस्व।'
'त्र्यंबकं यजामहे सुगन्धि पतिवेदनमित्यादि॥'

साकमेध के अनन्तर दो, तीन, चार या पन्द्रह दिन पश्चात् शुनासीरीययज्ञ से यजन किया जाता हैं। इसमें अग्नि, पूषा, इन्द्र, वायु और सूर्य का यजन किया जाता है। इस यज्ञ में द्वादश गाय या दो बैलों के साथ हल दक्षिणा में दिया जाता है[1], यह एक कृषियज्ञ था।

(निरूढ़पशुबन्ध)

पशुबन्ध या पशुवध—वैदिकग्रन्थों में इस यज्ञ की संज्ञा 'पशुबन्ध' है। प्रारम्भ में यह यज्ञ पशुवधात्मक या पशुबन्धात्मक था, इसमें शंका होती है। शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से ज्ञात होता है कि दोहनार्थ पशु घरों में बांधे जाते थे, वही कर्म 'पशुबन्ध' कहा जाता था—'पशुबन्धेन यजते। पशवो वै पशुबन्धः पशुमानसानीति तेन गृहेषु यजते, गृहेषु पशून् बन्धाति, इतितेन सुयवसे यजते सुयवसे पशून् बध्ना[2]'। यहाँ पर पशुवध का कोई भावार्थ नहीं है, स्वामी सत्यप्रकाश का भी यही मत है।[3] श्रौतसूत्रों में पशुसंज्ञपन (मारण) के अवसर पशुवपाहोममन्त्रों में भी हिंसा का

1. आ० श्रौ (8.6-20-9-12)
2. श०ब्रा०(11-7-1-1)
3. Pusuyajnas or adoration of animals, very wrongly interpreted as animal offerings. The Pusumeda or the animal adoration cermonies are also associated with the New Moon and Full

भाव नहीं है। अनेक प्रमाणों से ज्ञात होता है पुराकाल में सर्वथा हिंसा ही नहीं होती थी—

श्रूयते पुराकल्पे नृणां व्रीहिमय: पशु: ।
येनायजन्त यज्वान: पुण्यलोकपरायणा: ।।[2]

महान् याज्ञिक यास्काचार्य ने अध्वर का अर्थ अहिंसा का निषेध किया है—

'अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेध: ।'[3]

चरकसंहिता में उल्लिखित है कि पुराकाल में यज्ञों में पशुवध नहीं होता था ।[4] महाभारत और वायुपुराण के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आप्त्य त्रित, इन्द्र और बृहस्पति के समय राजा वसु के यज्ञ में प्रभूत हिंसा हुई ।[5] अत: यज्ञों में पशु

Moon rites. The practice deteriorated in latter (Introd. tr. of S.B.P. 412).
पशुर्बध्यते यज्ञार्थं यस्मिन् कर्मणि स पशुबन्ध: (आ० श्रौ० टीका 155)

1. (क) अपां त्वोषधीनां रसं गृह्णामीति इत्यादि तथा—यजुर्वेद में 'पशून् पाहि मा मा हिंसी: 'अजां मां हिंसी:, 'अविं मा हिंसी:, 'इमं मा' हिंसीर्द्वि पादं पशुम्'
   (ख) विष्णुशर्मा ने कहा है –
   वृक्षांश्छित्वा पशून्हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
   यद्येवंगम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते । (पंचतन्त्र अ० 3०पृ० 191)
2. महा० अनु० (177-54)
3. नि० (13-7)
4. आदिकाले खलु यज्ञेषु पशव: समालम्भनीया बभूवुर्नालम्भनाय प्रक्रियन्ते स्म:
   (चरकसंहिता, चि० स्था 9-4)
5. तथा विश्वभुगिन्द्रस्तु यज्ञं प्रावर्तयत्तदा ।
   दैवतै: सहित: सर्वै: सर्वसंभारसंभृतम् ।।
   महर्षयस्तु तान् दृष्ट्वा दीनात् पशुगणान् स्थितान् ।
   पपृच्छुरिन्द्रं सम्भूय कोऽयं यज्ञविधिस्तव ।
   अधर्मो बलवानेष हिंसाधर्मेप्सया तव ।।
   यज्ञबीजै: सुरश्रेष्ठ येषु हिंसा न विद्यते ।
   त्रिवर्षपरमकालमुषितैरप्ररोहिभि: ।। (वा० पु० अ० 31)
   अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान् ।
   स च च्छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्य: पशुरिति स्थिति: ।

हिंसा सर्वथा कोई नवीन कल्पना भी प्रतीत नहीं होती, जैसा कि पं० भगवद्दत्त का मत है।[1] इस समय यजुर्वेद की सभी संहिताओं (शाखाओं) में हिंसामययज्ञ विप्रचित्ति, विरोचन इन्द्र आदि देवासुरों के समय से ही प्रारम्भ हो चुके थे, यद्यपि आज यह ज्ञात नहीं कि उस समय कितनी और कैसी हिंसा होती थी। कालान्तर में आहितग्नि त्रैवर्णिक के लिये मांसमययज्ञ का बिधान ही बना दिया गया। मनुस्मृति जैसे धर्मशास्त्र में लिखवा दिया गया कि जो मनुष्य यज्ञ में मांस नहीं खायेगा, उसे 21 जन्म तक पशुयोनि में जन्म लेना पड़ेगा—

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः।
स प्रेत्य पशुतां याति संभावनेकविंशतिम् ॥[2]

प्रायः यही मत आपस्तम्ब ने वाजसेनयिब्राह्मण (शतपथब्राह्मण) के प्रमाण से लिखा—

"मांसीयन्ति ह वा अग्नयो जुह्वतो यजमानस्य ते यजमानमेव ध्यायन्ति।
यजमानं संकल्पयन्ति।
पचन्ति हवा अन्येष्वग्निषु वृथा मांसम्।
अथैतेषां नान्या मांसाशा विद्यते।
यस्यो चैते भवन्ति तं ततो नानीजानं पशुना संवत्सरोऽतीयात्।
आयुष्यो ह वा अस्यैष आत्मनिष्क्रयणं इति वाजसनेयकं भवति।"[3]

वीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ ॥ (शा० पु० 33)
विष्णुशर्मा ने महाभारत के मत की पुष्टि की है—
ये यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति तेऽपि मुग्धाः परमार्थं न जानन्ति।
यश्च केनचिदुक्तम् अजैर्यष्टव्यमिति तत्राजा व्रीहयः सप्तवार्षिका उच्यन्ते।
न जायन्ते इत्यन्वयार्थबलात्। (पंचतन्त्र, काकोलूकीय, श्लोक 95 के अनन्तर)

1. ब्राह्मणग्रन्थों में कभी अग्नि कभी, पृथिवी, कभी चन्द्र और ग्रहादि को पशु कहा है। आकाशस्थ यज्ञों में ये पशु वेदियों के समीप रहते थे, इनका वध नहीं हुआ। यज्ञ करने वाले देव अपने साथियों की बलि कैसे देते? इसलिये कृतयुग में इस पृथिवी पर जो यज्ञ मनुष्यों द्वारा हुये, उनमें कहीं बलि नहीं दी गई। महाभारत, चरकसंहिता और वायुपुराण में ऐसा लिखा है। उत्तरकाल में पिष्टपशु का विधान हुआ। यज्ञों में पशुवध सर्वथा नवीन कल्पना है।"

(वै० वा० इ०, भाग 1, पृ० 33)

तथा द्रष्टव्य हैं—'अग्निः पशुरासीत्, तमालभन्त, तेनायजन्त।
सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त (श० ब्रा० 1-2-7-13-14),

2. म० स्मृ० (5-335)
3. आ० श्रौ० (7-8-28-8)

होमकर्ता यजमान की अग्नियाँ मांस की इच्छा करती हैं, वे यजमान का ध्यान करती हैं, उससे संकल्प करवाती हैं। लोग अन्य अग्नियों में मांस वृथा पकाते हैं। अतः (यज्ञमांस खाने के पश्चात्) माँसखाने की इच्छा नहीं होती। अतः पशु-यज्ञ एक वर्ष से अधिक नहीं निकलना चाहिये यह यज्ञमांसभक्षण आयुष्य एव आत्म-निष्क्रयण है. ऐसा वाजसनेयक मत है।"

ब्राह्मणों ने अपनी एवं आश्रयदाता क्षत्रियों को इच्छापूर्ति के लिये, द्यूत और मद्यसेवन के साथ मांसभक्षण को धार्मिक एवं पवित्रकर्म बना दिया तथा यज्ञ शास्त्रों एवं धर्मशास्त्रों में इसको वैधानिकरूप दे दिया, यहाँ तक कि अनिवार्य भी बना दिया।

यज्ञविधान—आपस्तम्ब के मत में निरूढ़पशुबन्ध षाण्मासिक या प्रतिसंवत्सर करना चाहिये। यज्ञ पौर्णमासी और आमावस्या के दिन हीं करना चाहिये। यह यज्ञ ऐन्द्राग्न-सौर्य या प्राजापत्य होता है, जिस देवता के निमित्त यज्ञ किया जाता है, तत्तद्देवसम्बन्धीमन्त्र पढ़े जाते हैं।

निरूढ़पशुबन्ध में यूपच्छेदन सर्वप्रथम कर्म होता है, वृक्षाव्रश्चन करके यूपार्थ काष्ठ (पालाश, खादिर, वैल्व, या रोहीतक) समीकृत किया जाता है। यूप का प्रमाण एकारत्नि से पञ्चारत्नि (पाँच हाथ) तक का होता था। इस यज्ञ की वेदी वरुणप्रघास के सदृश निर्मित की जाती है। व्रतदीक्षा के अनन्तर यजमान यूप के लिये अवट (गर्त) खोदता है, तननन्तर यूपहोम, यूपाञ्जन, यूपोच्छ्रयण, यूपपरिव्ययण (वन्धन) आदिकर्म किये जाते हैं। वल्यर्थ बध्य पशु को शाखा, तृणादि से उसका उपाकरण होता है। तदनन्तर अग्निमन्थन, पशुनियोजन, और पशुशोधनकर्म करके प्रयाज आहुतियाँ दी जाती हैं। पर्यग्निकरण के पश्चात् पशु-संज्ञपन किया जाता है। शमिता (वधिक) शामित्रसंज्ञक स्थान में पशुकोघास आदि खिलाकर, उसके गले को बांधकर और मुख वन्द करके निःशब्द पशु को मारता था।

पत्नी के आनयन के अनन्तर पश्वंगों को शुद्ध किया जाता था। पशु की वपा को निकालकर अध्वर्यु वपायाग करता था। इसी प्रकार पशु के अन्य अंगों का होम किया जाता था। पुरोडाश याग और इडाभक्षण (मांसभक्षण) अनन्तर गुदकाण्ड से उपयजन एवं जाघनी से पत्नीसंयाज होता था। सभी ऋत्विग्यजमान सपत्नीक स्नानार्थ सरोवर या नदी पर जाते थे। अध्वर्यु शूल को शुष्कार्द्र स्थान में छिपाता था। स्नान के पश्चात् सभी आहवनीय में समिदाधान करके उसकी उपासना करते थे।

—०—

नवम—अध्याय

सोमक्रतु

अग्निष्टोम—आपस्तम्बाचार्य ने जो यह प्रतिज्ञा की हैं—'यज्ञं व्याख्यास्यामः 'स त्रिभिर्वेदैः' (यज्ञ की व्याख्या करेंगे, वह तीन वेदों द्वारा साध्य है)। यह सोमक्रतुओं' के लिये ही कहा गया है, न कि पूर्वोक्त अग्निहोम, निरूढ़पशुबध, दर्शपौर्णमास आदि के लिये। वेदत्रयी का मुख्यसम्बन्ध सोमयज्ञों से ही था।[1] सोमक्रतु में सोम-पान करने वाले को सोमप कहा जाता था। सोम की कोई लता होती थी।[2] इस सम्बन्ध में विद्वानों—

---

1. त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गति प्रार्थयन्ते
(गीता 1-20)

तथा—ऋग्वेद में 'अपाम सोमममृता अभूग (8-48-3)

2. दिवि वैसोम आसीत्·· गन्धर्वो विश्वावसुः पर्यमुष्णात्त देवा विदुः
(श० ब्रा० 3-2-3-2)

"सोम स्वर्ग में था, गन्धर्व विश्वावसु ने इसे चुरा लिया, देवों ने इसे जाना" यह सोम क्या था, इसका रहस्य आज प्रायः अज्ञात ही है। सोम को, वेद में मूजवान् पर्वत पर उत्पन्न बताया है—

सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः (ऋ० 10-34)

श्री सत्यव्रत सामाश्रमी के मत में मूजवान् पर्वत कैलाशपर्वत के पश्चिम में था (द्र० ऐतरेयालोचन, 2-35), तथा प्रतीत होता है कि मूजवान् कैलाशपर्वत का ही अपर नाम था—

एतत्ते रुद्रावसम्, तेन नरो मूजवतोऽतीहि (य० 3-61)

इस मन्त्र में रुद्रनिवास मूजवान् (कैलाशपर्वत) पर था।

सुश्रुतसंहिता में सोम के अनेक भेद वताये गये हैं—

अंशुमान् मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः।
दूर्वासोमः कनीयांश्च श्वेताक्षः कनकप्रभः।
प्रतावांस्तालवृन्तः करवीरोऽशंवानपि।
स्वयंप्रभो महासोमोयश्चापि गरुडाहृतः।
गायत्रस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाक्करस्तथा।
अग्निष्टोमो रेवतश्च यथोक्त इति संज्ञितः॥

(सु० सं० 29-2-7)

अग्निष्टोम या ज्योतिष्टोम शब्दों का अर्थ—सामवेद में 'यज्ञा यज्ञावो अग्नये' इत्यादि का मन्त्र का नाम 'अग्निष्टोम' साम है, अतः इसी साम से यह यज्ञ समाप्त होता है, अतः इसकी संज्ञा 'अमिष्टाम है। इसी प्रकार त्रिवत् पञ्चदश, सप्तदश और एकविंशसंज्ञक चार स्तोम (साम) हैं, इनको ज्योतिः कहते हैं—

तथा हि तैत्तिरीयब्राह्मण (1-5-11) में कहा है—

त्रिवृत् पञ्चदशः सप्तदश एकविंश एतानि वाव ज्योतींषि त एतस्य स्तोमाः ।

इस ज्योतिष्टोम के सात प्रकार थे—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय और अप्तोर्याम ।

सोम के उत्पत्तिस्थान कथित हैं—
हिमवत्यर्वुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा ।
श्रीपर्वते देवगिरौ देवसह्ये तथा
पारियात्रे च विन्ध्ये देवसुन्दे ह्रदे तथा ।
उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः
पञ्च तेषामधो मध्ये सिन्धुनामा महानदः ।
हठवत् प्लवते यत्र चन्द्रमा सोमसत्तमः ।
तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मुञ्जवानंशुमानपि ।
कश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ।। (सु० सं० 29-22-30)
ऋग्वेद (10-85-3) में सोम को ओषधि की कहा है—

"सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम्"

प्रसिद्ध 'धर्मयुग' साप्ताहिक (दि० 1-2-75) पत्रिका में मारुत चितपल्ली नामक लेखक के लेख–'स्वर्ग से पृथिवी पर सोमलाने वाले पक्षी, श्येन में लिखा है—'अमरीकी शोधकर्त्ता आर० गार्डन वासन ने सिद्ध किया है कि सोम 'फ्लाइड अगरिक' (अमानिता मस्कारिया) नाम से जानने वाला कवक है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'सोम, दि डिवाइन मशरूम आफ इम्मारटलिटी', में ऋग्वेद में वर्णित सोम के 'फलाइड अगरिक' को साम्य को अनेक रंगीन चित्रों द्वारा समझाया है। उनके अनुसार यह वनस्पति साइबेरिया और नार्वे से ईशान्य रूस तक के भागों के गीले पर्वतशिखरों पर मिलती है, (पृ० 20), ऋग्वेद में में श्येनपक्षी का कई स्थानों पर उल्लेख है। सोम के खेतों की रक्षा और पर्वतों से सोम चुनकर लाने का अद्भुत काम इन श्येन (बाज) पक्षियों से कराया जाता था, ऋग्वेद के मन्त्रों में इसका प्रमाण मिलता है—

'असमने अध्वनि वृजिने पथि श्येनांइव श्रवस्यथ' नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि)। (ऋ० 6-46-13, 4-26-7, 1-32-14)

अग्निष्टोम का प्राथम्य—सोमक्रतुओं में अग्निष्टोम प्रथम क्रतु था, फिर भी याज्ञिकों में इस सम्बन्ध में मतभेद थे। निदानसूत्रकार पतञ्जलि ने इस सम्बन्ध में प्राचीन याज्ञिकों के मत उद्धृत किये हैं –

"अथ का प्रथमा संस्थेति, अग्निष्टोमीं
प्रथमां मन्ये इति शाण्डिल्यः।"

"अतिरात्रीं प्रथमां मन्ये इति धानाञ्जयः।[1]

भारद्वाज ने भी अतिरात्र सोमक्रतु को प्रथम माना है।[2] परन्तु आपस्तम्ब सहित अधिकांश याज्ञिक अग्निष्टोम की ही प्राथम्यता का प्रतिपादन करते हैं—

"अग्निष्टोम : प्रथम यज्ञः'

यज्ञविधान—जो यजमान दर्शपूर्णमास का अनुष्ठान कर लेता था, वही ज्योतिष्टोम कर सकता था, यह क्रतु वसन्त में किया जाता था। सभी यज्ञक्रतुओं में पहिले ऋत्विग्वरण होता था। ज्योतिष्टोम का यक्ष्यमाण[3] व्यक्ति इन सोलह ऋत्विजो का वरण करता था—ब्रह्मा, उद्गाता होता, अध्वर्यु, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रस्तोता, मैत्रावरुण, प्रतिस्थाता, पोता, प्रतिहर्त्ता, अच्छावाक, नेष्टा, अग्नीत्, सुब्रह्मण्य, ग्रावस्तुत् और उन्नेता।

होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा—ये चारो महर्त्विज कहे जाते थे और चार-चार ऋत्विक् इनके सहायक होते थे।

सत्रहवां ऋत्विक् सदस्य कहलाता था, जिसका महत्त्व भी कम नहीं था।[5]

प्रत्येक वृत ऋत्विक् का मधुपर्क से पूजन होता।[6] सोमक्रतु की यज्ञभूमि को 'देवयजन' कहा जाता था। यजमान राजा से देवयजन भूमि की याचना करता था—"देव। वरुण देवयजनं मे देहि।" तदनन्तर भूमिमापन तथा प्राचीनवंशशाला का निर्माण किया जाता था, यह चतुरश्र (आयाताकार) मण्डप होता था, जिसकी लम्बाई सोलह प्रक्रम और चौड़ाई आठ प्रक्रम होती थी।

आमावस्या या पूर्णिमा के दिन दीक्षायज्ञ होता था, यजमान के विधिवत् दीक्षित किया जाता था। अध्वर्यु यूपाहुति करता था। यजमान केशवपन के अनन्तर

---

1. निदानसूत्र, प्रापठक, 3, (पृ० 43-45)
2. अतिरात्रमेके प्रथमं यज्ञं समामनन्ति(आ० श्रौ० 160-12-13)
3. आ० श्रौ० (10-2-13)
4. सोमपानविच्छेदी सोमपान का अनधिकारी हो जाता है—
   यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपुरुषम्।
   स वै दुर्ब्राह्मणनाम न सोमं पातुमर्हति॥
5. आ० श्रौ० (10-1-1-10)
6. पारस्करगृ० (1-3)

इष्ट भोजन खाता था, स्नात यजमान क्षौमवस्त्र पहिनकर भोजन करता था। वाजसनेय सम्प्रदाय में मांसल (अंसल) भोजन का विधान था। स्वयं याज्ञवल्क्य वाजसनेय गौ-वृषभ मांस को प्रशंसनीय मानते थे।[1] भोजन एवं दीक्षा के अनन्तर दम्पती यज्ञशाला में प्रवेश करते थे, वाग्यत यजमान शालाप्रवेश करता था, तब अध्वर्यु पूर्णाहुति होम करता था। यजमान व्रतधारण करते हुये वहाँ रात्रि में रहता था।

दीक्षा के अनन्तर प्रायणीयेष्टि में चार देवताओं के लिये होम होता था—पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम और सविता। अध्वर्यु और यजमान विमित (मण्डप) से निकलकर सोमक्रयणी गौ की पूजा और होम आदि करके सोमक्रमार्थ पर्वत[2] की ओर शकटादि में बैठ जाते थे। वहाँ सोमक्रेता (अध्वर्यु) और सोमविक्रयी में रोचक संवाद होता था। अध्वर्यु सोमक्रयणी के अंग प्रत्यंगों का नाम लेकर सोम का सौदा करता था। सोम एक गौ से एक सहस्र गौ के मूल्य में खरीदा जाता था। सोम को बलपूर्वक हरण करने का विधान भी है, सोमविक्रयी को वरत्रकाण्ड से ताडा करते थे आपस्तम्ब ने परमत से लिखा है कि उसका कभी वध भी कर दिया जाता था। सोमविक्रय एक महान् पाप माना जाना था, केवल कुत्सगोत्रीय ब्राह्मण या शूद्र ही उसे वेचते थे।

सोम को लाकर यज्ञशाला द्वार पर सोम की अतिथिवत् पूजा की जाती थी। तदनन्तर औदुम्बरी आसन्दी पर, सोम को वस्त्र से ढ़ककर रख देते थे। इसी समय तानूनप्त्रसंज्ञकहोम किया जाता था। तदनन्तर अवान्तर दीक्षा, सोमाप्यायन, निह्नव (उत्तानहस्त) सुब्रह्मण्याह्वान और उपसदिष्टकर्म किये जाते हैं। यज्ञभूमि में वृत्ताकार परिधियां खोदी जाती है, इनको 'उपसद्' कहते हैं।

कल्पसूत्रों में तीन 'उपसद्' विख्यात है—अयःशया रंजःशया और हराशया, ये क्रमश लोह, चाँदी और सोने की होती थी। इनमें होम किया जाता था। तदनन्तर महावेदी[3] का निर्माण किया जाता था, इसके श्रोणि, अन्तःपात्य, पृष्ठ्य, चात्वाल, उत्कर आदि विभाग होते थे। यज्ञसामग्री हेतु दो हविर्धानसंज्ञकशकट वेदिमध्य में खड़े किये जाते थे। दक्षिणहविर्धान शकट के प्रउग के नीचे चार उपरख (गर्त) खोदे जाते थे, उनके ऊपर कुश बिछाकर दो औदुम्बर अधिषवणफलक रखे जाते थे, इनके ऊपर चर्म और पांच सोम कूटने के पत्थर रखे जाते थे। पृथक् पृथक् ऋत्विजों के

---

1. अंसलभोजनं वा (का० श्रौ० 7-2-25)
'स्थूलं चेद्धेन्वनुडुहंभवति ततोऽहमश्नाम्येवेति' (श०ब्रा०3-1-2-21)
'धेनु और अनड्वान् का मांस अंसल होता है, इसलिये मैं खाता हूँ।'
2. शीर्णा शिरो क्रीतं हरन्ति (आ० श्रौ० 10-8-24-2)
3. आ० श्रौ० (10-9-26-16-19 तथा 27-27-28)

शरणस्थल धिष्ण्या बना जाते हैं, उनके ऊपर सिकता और पुरीष (मृत्तिका) डाली जाती है। अध्वर्यु, यजमान की गोद में सोम को रखकर प्रोक्षण, परिकरण, प्रचरण (होम) आदि कर्म करता है। इसी समय यूपहोम के अनन्तर अग्नीषोमीय पशु के वपामार्जनान्तकर्म होते हैं। अध्वर्यु ही यज्ञार्थ वासतीवरीसंज्ञक जल घटादि में लाता है।[1]

सवनत्रय – सोम को कूटकर सोमरस निकाला जाता था, उसी कर्म को सवन (या सुत्या) कहा जाता था। यह दिन में तीन बार निकाला जाता था— प्रातःसवन, मध्यदिन सवन और तृतीयसवन। ग्रावा (पत्थर) से कूटकर अध्वर्यु आदि सोमरस निकालते थे। सर्वप्रथम उपांशुग्रह और अन्तर्याम ग्रहों का होम होता है। तदनन्तर द्विदैवत्यग्रह ग्रहण होता है– ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, शुक्र, आग्रयण, उक्थ्य, ध्रुव, वैश्वानर नाम के ग्रहों में सोमरस डाला जाता है, तदनन्तर बहिष्पवमान स्तोमगान होता है, सवनीयपशु या पश्वेकादशिनी के पश्चात् आश्विनग्रहण होता है। ततः द्विदैवत्यग्रहप्रचार और द्विदैवत्यभक्ष विहित है। सर्वप्रथम होतृभक्ष का विधान है अर्थात् सर्वप्रथम होता सोम को पीता है, तदनन्तर, अन्य ऋत्विग्यजमान सोमपान करते हैं। अध्वर्यु होतृचमस में पहिले सोम पीता है, तदनन्तर प्रतिप्रस्थाता इत्यादि। तदन्तर द्वादश ऋतुग्रहों का (ग्रहण) होता है।

लोकद्वारिसामगान के पश्चात् माध्यदिनसवन प्रारम्भ होता है। इस सवन में प्रधान ग्रह होते हैं—शुक्रामन्थी, मरुत्वती, आग्रयण और उक्थ्य। माहेन्द्रग्रह के अनन्तर तीन अतिग्रह ग्रहण किये जाते हैं—आग्नेयग्रह, ऐन्द्रग्रह और सौर्यग्रह।

तृतीयमत में इन ग्रहों का प्रचार होता है—आदित्यग्रह, आग्रयणग्रह, सावित्रग्रह, पत्नीवतग्रह, ध्रुवग्रह, हरियोजनग्रह।

यज्ञान्त में सोमावभृथ (स्नान) होता है।

अग्निष्टोम में कुल द्वादश शस्त्र (स्तोम) गाये जाते हैं जिस सोमक्रतु में पन्द्रह शस्त्र गाये जाते हैं, उसे उक्थ्य सोमक्रतु कहते हैं। षोडशी में सोलह शस्त्र होते हैं।[2] अग्निष्टोम करके उक्थ्यशस्त्र के पाठ के बिना, जब षोडशी किया जाता है, उसे अत्यग्निष्टोम कहते हैं। षोडशशस्त्रपाठ के पश्चात् जब 'अतिरात्र' संज्ञक साम गाया जाता है, तो उस सोमक्रतु को ही अतिरात्र कहते हैं।[3] इस यज्ञ में कुल उन्तीस शस्त्र गाये जाते हैं।

---

1. आ० श्रौ० (8-9-7)
2. न वै षोडशी नाम यज्ञोऽस्ति यज्ञे षोडशं शस्त्रं षोडशं स्तोत्रं तेन षोडशी (तै० सं० 6-6-1, ऐ० ब्रा० 6-1)
3. अतिरात्रः परमो यज्ञक्रतूनामित्याहुर्ब्रह्मवादिनः (काठकसं० 33-2-2)

गवामयन[1]—इसको संवत्सरसत्र भी कहते थे, क्योंकि यह एक वर्ष में पूर्ण होता था। यह ईसाईयों के क्रिसमस के तुल्य एक आनन्द का पर्व अथवा एक ग्राम्य (नागरिक) लौकिकपर्व था, जिसमें मैथुन, ग्राम्यगान और नृत्य भी विहित था। श्रीपांडुरंग वामन काणे का का भी यह मत है।[2] फाल्गुनी पौर्णमासी या चैत्री के दिन इसके प्रारम्भ होने से भी इस मत की पुष्टि होती है कि यह होली के समान नववर्ष का ग्राम्यकृत्य था। इस सत्र में द्वादशाह क्रतु के समान सुत्यादि विधान होता है, इसमें 361 सुत्वा होती है।[3] इस क्रतु में अहक्लृप्ति इस प्रकार है—

प्रथम मास षडह अभिप्लव, दो अग्निष्टोम और उक्थ्य होते हैं। पाँच मास तक यही कर्म होते हैं, षष्ठ मास में त्रय अभिप्लव, त्रय पृष्ठ्य षडह, अभिजित्, तीन स्वरसाम होते हैं। छ मास चे पश्चात् या वर्षमध्य में विषुवान् नाम का क्रतु होता था, यह पूर्वपक्ष (षण्मासात्मक) है। उत्तरपक्ष के षण्मासों में विपरीतक्रम से स्वरसाम आदि किये जाते थे। षष्ठ मास में तीन अधिक अभिप्लव, गोआयुषी, दशरात्र, महाव्रत और अग्निष्टोम किये जाते थे। महाव्रतयज्ञ का अन्तिम दिन होता था। इस दिन अध्वर्यु द्वारा सामगान, शततन्तुवीणागान, उद्गाता द्वारा वीणा-वादन होता था। पुंश्चली और ब्रह्मचारी इसी अवसर पर मैथुनार्थ परस्पर आलिंगन करते थे, शूद्र और ब्राह्मण परिमण्डल चर्म या रस्साकशी करते थे। मार्जालीय के दक्षिणपार्श्व में स्त्रीपुमान् मैथुनकर्म करते थे। अन्यत्र क्षत्रिय कवचादि धारण करके अनिष्पत्र बाणों को चलाते थे इसी प्रकार दुन्दुभिवादन, उपगान और वाद्यवादन होता था। वाद्य थे—गोधावीणा, काण्डवीणा इत्यादि। आठ दास-कुमारियाँ शिर पर जलपूर्ण घट रखकर मार्जालीय के पास जाकर ग्राम्यगाथा गाती थी।[4] प्रातः उदयनीय अतिरात्रक्रतु करके तीन गायों का आलम्भन, एवं दक्षिणा दान आदि कर्म से सत्र समाप्ति हो जाती थी।

(वाजपेयक्रतु)

शतपथादि के मत में वाजपेययज्ञ राजसूययज्ञ से भी महत्तर और महनीय था।[5] वाजपेय में केवल ब्राह्मण या क्षत्रिय का ही अधिकार था संभवत व्यवहार में केवल ब्राह्मण ही वाजपेययज्ञ करते थे, जिससे आज केवल ब्राह्मणों में ही 'वाज-

---

1. गौओं द्वारा अनुष्ठित होने से इसकी गवामयन संज्ञा है (तै० सं० 7-4-8)
2. द्र० ध० इ० (भाग 1, पृ० 573)
3. ताण्ड्यब्रा० (12-3-11)
4. गाव एव सुरभय गावो गुल्गुलगन्धयः
   गावो घृतस्य मातरस्ता इह सन्तु भूयसी॥
   इत्यादि हिल्लकागाथा। (आ० श्रौ० 21-20-3)
5. अवरं वै राजसूयं परं वाजपेयम् (श० ब्रा० 5-1-10-12)

पेयी' संज्ञक उपजाति होती है। अन्न; शक्ति या सोम की संज्ञा 'वाज थी।[1] वाजपेय में सोमरस की संज्ञा ही वाज थी, सोमप ब्राह्मण को ही (वाजपेयी) कहते थे। वाजपेय को 'बृहस्पतिसव' भी कहा जाता था, क्योंकि इसको बुद्धिजीवी ब्राह्मण ही करता था।[2] देवपुरोहित बृहस्पति ने आजि को जीता था।[3] वाजपेय क्रतु शरद्‌ऋतु में किया जाता था, इसका कल्प (विधान) षोडशीक्रतुसदृस था, इसमें प्रजापति मुख्य देवता था तथा सप्तदश प्रजापति का लक्षण था, अतः इस क्रतु में सभी वस्तुओं की संख्या सत्रह-सत्रह होती थी, यथा सप्तदश दीक्षा, सप्तदश ग्रह, सप्तदश पशु, सप्तदश वस्त्र, सप्तदश ऋत्विज इत्यादि।

सप्तदश दीक्षा के अनन्तर यजमान केशवपन के अनन्तर सुराद्रव्य और सोम खरीदता था, नेष्टासंज्ञक ऋत्विक् सुरा पकाता था। खादिर या वैल्व यूप सप्तदशारत्नि होता था और उसको सप्तदशवस्त्रों से बांधते थे। तदनन्तर क्रतु में ये कर्म मुख्यतः होते थे—

पञ्च ऐन्द्र अतिग्राह्यपात्र, षोडशीपात्र, सप्तदश प्राजापत्य सोमपात्र इसी प्रकार सत्रह मृण्मय सुरापात्रों में ग्रहण होता था। चार अतिरात्रपशु मरुतों के लिये और 17 श्यामतूपरों (बकरों) की प्रजापति के नाम पर बलि दी जाती थी। यज्ञान्त में दक्षिणा में 1700 गाय या वस्त्र दान दिये जाते थे। एक-एक ऋत्विक् को 17-17 वृषली भी दान में दी जाती थी। आपस्तम्ब ने दो प्रकार के वाजपेय कहे—आप्तवाजपेय और कुरुवाजपेय।[4]

सामगान के अनन्तर रथों पर चढ़कर वाजी (दौड़ Race) होती थी, जो लक्ष्य को पहिले प्राप्त करता, वही जीतता था। अन्त में ग्रहग्रहण, होम एवं दक्षिणा-दानादिकर्म होकर क्रतु सम्पन्न हो जाता था।

(सौत्रामणी)

कल्पसूत्रों में त्रिविध सौत्रामणीक्रतु का उल्लेख है—सामान्य सौत्रामणी, कौकिली सौत्रामणी और चरकसौत्रायणी। इस यज्ञ में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का अधिकार था, परन्तु प्रायः विजिगीषु क्षत्रिय ही इस क्रतु को करते थे। सोमयज्ञ करके यजमान इसका अधिकारी होता था।

शतपथब्राह्मण में उल्लिखित है कि 'सुत्रामा' इन्द्र का ही नाम था, सरस्वती और अश्विनीकुमारों ने इन्द्र की पाप से रक्षा की इसलिये, उसका नाम 'सुत्रामा'

---

1. अन्नं वै वाजः (श ब्रा॰5-1-4-3), अन्नं वै वाजपेयः (तै॰सं॰1-3)
2. बृहस्पतिसवो वा एष यद् वाजपेयम् (श॰ ब्रा॰ 5-2-1-19)
3. द्र॰ श॰ ब्रा॰ (5-1-1-1)
4. आ. श्रौ. (18-4-9-11)

हुआ ।[1] शतपथ के प्रमाण से ही ज्ञात होता कि अपरुद्ध या परास्त राजा ही सौत्रामणी करने का अधिकारी होता था, इस सम्बन्ध में वहाँ दुष्टरीतु पौंसायन का उदाहरण दिया है ।[2]

यज्ञविधान—त्रिपशुकानित्या सौत्रामणी यज्ञक्रतु में तीन पशु-(अज) मेष और ऋषभ और तीन देवता होते हैं—अश्विनौ, सरस्वती और इन्द्र । कौकल सौत्रामणी में पाँच पशुओं का आलम्भन विहित था ; यह यज्ञ चार दिन में पूरा होता था, छः ऋत्विक् विहित थे—अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता, अग्नीत्, प्रतिप्रस्थाता और मैत्रावरुण ।

यज्ञ में तीन पयोग्रह और तीन सुराग्रह विहित थे । होमद्रव्य सुरा होता था । क्रीत ब्राह्मण ही सुरापान करता था ।

नग्नहुचूर्ण, तोक्म और मासरसंज्ञक द्रव्यों से सुरा निर्माण की जाती थी, उसमें गोदुग्धादि मिश्रित किया जाता था । तदनन्तर तीनों देवताओं के निमित्त तीन पयोग्रह या सुराग्रहों का ग्रहण होता था । भक्षण के पश्चात् पुरोडाशादि एवं दक्षिणाविधान था ।[3]

सत्र

इसको केवल ब्राह्मण ही कर सकता था, इससे विषय में पहिले कहा जा चुका है कि 17 से 24 पर्यन्त अधिकारी होते हैं, सभी यजनान और ऋत्विक् होते हैं, अतः दक्षिणाविधान नहीं होता, फिर भी एक या अधिक व्यक्तियों को गृहपति या कुलपति बनाया जाता है ।

द्वादशाह या द्वादशरात्र से आगे एक एक दिन की वृद्धि की गणना से 40 दिन या रात्र तक सत्र की वृद्धि होती है या 13 दिन के सत्र को त्रयोदशरात्र और 40 दिन के सत्र को चत्वारिंशद् सत्र कहते हैं । चत्वारिंशद् सत्र 64 दिन में समापणीय था । सत्र विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति के लिये किये जाते थे, यथा स्वर्गकाम, पशुकाम, प्रजाकाम, श्रीकाम अन्नाद्यकाम, यशःकाम, ओजस्काम, प्रतिष्ठाकाम इत्यादि ।

---

1. तावश्विनौ च सरस्वती च इन्द्रियं वीर्यं नमुचेराहृतं तदास्मिन् पुनरधुस्तं पाप्मनोऽत्रायन्त 'सुत्रातं वतैनं पाप्मनोऽत्रास्मीह तद् वाव सौत्रामण्यभवत्',
(श० ब्रा० 2-7-1-14)

2. दुष्टरीतुर्हं पौंसायनो दशपुरुषं राज्यादपरुद्ध आस । देवोत्तरसमुहपाटवं चाक्रं स्थपतिं सृञ्जया अपरुरुधुः । स होवाच दुष्टरीतुं पौंसायनं सौत्रामण्या त्वया याजयानि यदिदं सृञ्जयेषु राष्ट्रं तत्त्वयि धास्यामि इति । तथैवैनमयाजयत । तदु ह बह्लिकः प्रातीपीयः शुश्राव कौरव्यो राजा यो ह ।"
(श० ब्रा० 2-9-3)

3. द्र० आ० श्रौ (9-3-5-11)

चत्वारिंशद् सत्र के आगे एकोनपञ्चाशद् सत्र एकषिष्टसत्र और शतसत्र होते थे। शतसत्र से आगे दीर्घसत्र या महासत्र होते थे।

दीर्घसत्र—इनके नाम थे—अङ्गिरसामयन, दृतिवातवतोरयन, कुण्डपायिनामयन और तापश्चितामयन। ब्राह्मणग्रन्थों में सर्पसत्र का उल्लेख भी है।[1]

इनसे भी बड़े दीर्घसत्र थे—नैमिषीय प्रजापतिसत्र (बारह वर्षों में साध्य), शाक्त्यसत्र (36 वर्षों में साध्य), साध्यसत्र (100 वर्षों में सम्पादनीय)

विश्वसृजामयन (या प्रजापतिसत्र) एकसहस्रवर्ष में पूरा होता था। आपस्तम्ब ने लिखा है—

विश्वसृजः प्रथमाः सत्रमासत सहस्रसमं प्रसुतेन यन्तः।
तत ह जज्ञे भुवनस्य गोपा हिरण्मयः शकुनिर्ब्रह्मनाम ।।[2]

द्वादश संवत्सरात्मक सत्र नैमिषारण्य में किये जाते थे, यथा शौनक दीर्घसत्र यहीं पर हुआ। सरस्वतीनदीतट पर और दार्षद्वतसत्र दृषद्वतीनदी तट पर किये जाते थे इन। सत्रों में एक वर्षपर्यन्त गोरक्षा करते हुये नैतन्धवमरुस्थल में आग जलाते थे, अग्न्याधान के पश्चात् यजन होता था, तदनन्तर यमुना के तट पर त्रिप्लक्षसंज्ञक स्थान पर स्नान करते थे।[3]

स्पष्ट है दीर्घसत्रों को हर कोई नहीं कर सकता था, वस्तुतः ये गिने-चुने ऐतिहासिक सत्र थे, यथा शाक्त्यों (पाराशरों) ने 36 वर्ष तक सौदास कल्माषपाद के समय सत्र किया था, देवयुग में साध्यदेवों ने 100 वर्ष दीर्घसत्र किया, इससे भी पूर्व मरीचि पुलस्त्य, वसिष्ठ, भृगु आदि दश विश्वसृजों ने एकसहस्रवर्षपर्यन्त सर्वप्रथम दीर्घसत्र किया। कश्यप प्रजापति[4] केवल इस सत्र को 700 वर्ष तक ही कर सके, इसके पश्चात् कोई भी इस दीर्घसत्र को नहीं कर सका आदित्यदेव केवल 300 वर्ष ही इसको कर सके।

(अग्निचयन)

परिभाषा– महामहोपाध्याय मधुसूदनजी के अनुसार "गार्हपत्य, नैर्ऋत (दक्षिणाग्नि), आहवनीय आठ धिष्ण्याग्नियों का सोमसम्बन्धीसंस्कारविशेष 'अग्निचयन' नाम का अतियज्ञ है।[5]" पं०विद्याधर शर्मा के अनुसार 'इष्टकाओं(ईंटों)

1. ताण्ड्यब्रा० (24-2-14)
2. आ० श्रौ० (23-14-17)
3. आ० श्रौ० (23-13-14)
4. स सप्त शतानि वर्षाणां समाप्येमाम् (जै० ब्रा० 1-3)
5. यज्ञसरस्वती (पृ० 271)

से सम्पादित विशेष स्थल ही चयनयज्ञ है।[1]" सोमयाग की उत्तरावेदि को बढ़ाकर उसमें इष्टकाचयन किया जाता है, उसके ऊपर आहवनीयाग्निस्थापित करके होम किया जाता है, अन्यान्याधार स्थण्डिल (गर्त) की संज्ञा ही अग्निचयन थी। शतपथब्राह्मण के प्रारम्भिक छः काण्ड, अग्निकाण्ड कहे जाते हैं, उनकी रचना आचार्य शाण्डिल्य ने की थी, इन काण्डों में ब्रह्माण्ड की सृष्टिप्रक्रिया की अनुकृतिस्वरूप अग्निचयन का वर्णन हैं, चयनकर्त्ता समस्तसृष्टिक्रिया की अनुकृति करता है, इस विषय में डा० सत्य-प्रकाश ने कीथ का मत उद्धृत किया है अग्निचयन प्रजासृष्टि और प्रजापति का अनु-करण था।[2]

पंच पशु, अग्नि और इष्टका—इस अतियज्ञ की मुख्य सम्पादन सामग्री है। इस यज्ञ का सर्वाधिक महत्व था और इसे सर्वयज्ञमय कहा जाता था। इस यज्ञ की पांच चितियों कों पांच महान् यज्ञ कहा जाता है—"सर्वे है वे यज्ञा योऽयमग्निश्चित् सौम्योऽध्वरः प्रथमाचितिः, राजसूये द्वितीया चितिस्तृतीया अश्वमेधस्चतुर्थ्यग्निसवः पञ्चमी।" (श० ब्रा० 10-1-5-3)।

इससे इस यज्ञ की महिमा प्रख्यापित होती है।

यज्ञविधान—आपस्तम्ब के अनुसार वाजसनेय के मत में पांच देवताओं के लिये पांच पशुओं का 'आलम्भन[3]' किया जाता था—वैश्वकर्म पुरुष (मनुष्य), वारुण अश्व, ऐन्द्र ऋषभ, त्वाष्ट्र अवि (मेढ़ा), और आग्नेय अज (बकरा)। आपस्तम्ब के स्वमत में प्राजापत्य अश्व का उपाकरण करके अश्व, ऋषभ और वस्त (बकरे)

---

1. का० श्रौ० भूमिका (पृ० 61)

2. In the words of Kieth, in the elaborate and in detail tedious rite of the piling of fire altar lies the most philosophic contents of Samhita for in it finds expression, the chief doctrine of the sacrificial ritual, the sacrifice is a cosmic power of the highest potency The pat let to the composition of Sulba Sutras and thcir geometry. The Agnichayan leads to the concept of Prajapati." (Int. tr. S.B.P. 414).
'एतं प्रजापतिं सन्तमग्निमित्याचक्षते'; (श० ब्रा० 6-1-2)।

3. 'आलम्भन' का मूलार्थ 'दक्षिणादान' या 'प्राप्ति' ही था, आलम्भन का अर्थ पशुवलि (वध) बहुत बाद की कल्पना थी। श्रौतसूत्रकारों के मत में आलम्भित पशुओं को दक्षिणा में दान देने का विकल्प भी था (द्र० का० श्रौ० 6-1-4-8)। कुछ लोग (ब्राह्मण) दक्षिणा में प्राप्त पशुओं को मार खाने लगे, जिससे 'आलम्भन' का अर्थ 'पशुवध' हो गया। द्र० रन्तिदेवाख्यान, षोडशराजोपाख्यान द्रोणपर्व (महाभारत 11)

का आलम्भन किया जाता था, ये सभी पशु मुष्कर (वृष्णि या साण्ड=वीर्यवान्) होते थे ।

आपस्तम्बकल्प में 21 या 24 सामिधेनी मन्त्रों से अग्निप्रणयन करके द्वादश प्रयाज, आप्री मन्त्र पढ़े जाते हैं । अज को छोड़कर पुरुष सहित चारों पशुओं (अश्व, ऋषभ, अवि मिलाकर) का कायशोधनकिया जाता है । अज का यज्ञ में होम किया जाता था । कुछ याज्ञिकों के मत पांचों पशुओं की बलि होती थी । आलम्भनीय मनुष्य वैश्य या राजन्य होता था, परन्तु यह पुरुप जीवित न होकर युद्ध या वज्रपात आदि में मृतपुरुष होता था, उसे खोजकर यज्ञवेदी पर लाया जाता था, अथवा पुरुष के हिरण्मय या मृण्मय (कृत्रिम) शिर बनाये जाते थे अथवा पांच पशुओं के स्थान पर केवल 'लप्सुदी' संज्ञक काले बकरे (श्यामतूपर) की बलि होती थी । पुरोडाश यजन के पश्चात् यजमान एक वर्ष तक मांसमैथुनादि का सेवन नहीं करता था ।

अग्निचयन में 'उखासम्भरण' नाम का प्राथमिक कृत्य महत्वपूर्ण था । अमावस्या, पौर्णमासी या अष्टका के दिन उखासंभरण होता था । वैणवी या हिरण्मयी खुर्पी (अभ्रि) से अश्व, गवय या अज पर लादकर मिट्टी लाई जाती थी । जिससे उखा बनाई जाती थी । उखानिर्माण की विधि बड़ी जटिल थी । मिट्टी में दृढ़ता के लिये शर्करा, अजलोम, अश्मचूर्ण, व्रीहितुष, अर्मकपाल वेण्वङ्गार, पलाशकषाय आदि जल द्वारा मिश्रित करके प्रादेशमात्री उखा (पात्र) का निर्माण किया जाता था । इस कार्य को सेवकों की सहायता से महिषी या ज्येष्ठपत्नी करती थी । वस्तुतः इस यज्ञ को सम्राट या शक्त राजा के अतिरिक्त कोई कर भी नहीं सकता, इतिहास में कुरु, जनक जैसे इने गिने नृपतियों ने यह यज्ञ किया था । उखा में चार दिशाओं में चार वर्तिका या रास्ना लगाई जाती थीं, इनकी संधिओं में चार, छः या आठ स्तन बनाये उखा को भट्टे में पकाया जाता था और यजमान यज्ञदीक्षा के अनन्तर, होम करके, उखा में अग्नि रखकर कण्ठ में शणसूत्र से उसे लटकाता था और पुनः उसको प्रादेशपादी चौकी (आसन्दी) पर आहवनीयाग्नि के आगे रख देता था ।

उपर्युक्त उखासंभरण आदि कर्म की वर्षपर्यन्त आवृत्ति होती थी ।

अग्निचयन की वेदी अनेक, प्रकारों की बनाई जाती थी, यथा द्रोणचित्, रथचित्, कंकचित्, श्येनचित् और प्रउगचित् । अग्निक्षेत्र 40 फुट (पाद) तक आयाम का बनाया जाता था । अग्निक्षेत्र में तीन स्थण्डिल (गर्त) बनाये जाते थे, दक्षिणोत्तरस्थण्डिलों को दक्षिणपक्ष और उत्तरपक्ष कहा जाता था, मध्यम की संज्ञा थी 'आत्मा' अग्नि क्षेत्र में 261 या 394 पाषाण या ईंटे बिछाई जाती थीं ।

—९—

अध्याय—दशम

महायज्ञ

राजसूययज्ञ—यह राज्याभिषेक का अनिवार्य कर्म था और राजा ही इस यज्ञ को कर सकता था।[1] पृथुवैन्य पृथिवी पर सर्वप्रथम राजा था जिसका विधिवत् अभिषेक हुआ तथा इसने राजसूययज्ञ किया।[2] पृथु से युधिष्ठिरपर्यन्त अनेक सार्वभौम सम्राटों ने यह यज्ञ किया और प्रायः प्रत्येक यज्ञ के अन्त में कोई महायुद्ध हुआ।[3] ऐतरेयब्राह्मण में जिन राजाओं का ऐन्द्र महाभिषेक हुआ, प्रायः उन सभी ने अश्वमेघ यज्ञ किया, प्रारम्भ में ये दोनों यज्ञ प्रायः मिलते जुलते थे, उत्तरकाल में इनमें भेद अधिक स्पष्ट हुआ।[4]

यज्ञविधान—फाल्गुनमास की शुक्लप्रतिपदा के दिन राजसूय का प्रारम्भ होता था और यह यज्ञ 21 महीनों में पूरा होता था। प्रयुग्घविर्होम करने पर यह 33 मास में समाप्त होता था।

---

1. राजा स्वर्गकामो राजसूयेन यजेत (आ० श्रौ० 18-18-1)
2. पृथी ह वैन्यो मनुष्याणां प्रथमोऽभिषिषिचे, सोऽकामयत यतः
   सर्वमन्नाद्यमवरुन्धीयेति। (श० ब्रा० 5-2-5-ष)
3. राजसूयस्तु सोमेन श्रूयते पूर्वमाहृतः।
   तस्यान्ते सुमहद् युद्धमभवत् तारकामयम्॥
   आहृतो वरुणेनाथ तस्यान्ते सुमहाक्रतोः।
   देवासुरं महायुद्धं सर्वभूतक्षयावहम्।
   हरिश्चन्द्रश्च राजर्षिः क्रतुमेनमुपाहरत्।
   तत्राप्याडीबकं नाम युद्धं क्षत्रियनाशनम्।
   ततोऽन्तरमार्येण पाण्डवेनातिदुस्तरः।
   महाभारतप्रारम्भोऽग्निरिव क्रतुः। (हरिवंश 3-2-16-19)
4. It is of interest to note the list of these given in the Aitereya Brahman (8-21-23), as have been conecreted correspond roughly with that give in Satapath (13-5-4) and Sankhyayan Sraut Sutra 16-9 as the list of those who performed the Aswamedha, which, we shall see, is a rite of higher class than Rajasuya.
   (T. S. A.B. Keith., XI)

राजसूय से पूर्व पवित्रसंज्ञक सोमक्रतु किया जाता था इसके अन्तर्गत अनुमतीष्टि और मल्लादि पशु याग किये जाते थे। आपस्तम्ब के अनुसार पवित्र सोमक्रतु की दक्षिणा 5000 गाय होती थीं, आचार्य ने बह्‌वृचब्राह्मण से लिखा है कि इसमें 36000 गायें दी जाती थीं।[1]

पवित्रक्रतु के अनन्तर नैऋतपुरोडाशयज्ञ, बल्मीकवपाहोम और पूर्वोक्त चातुर्मास्य (वैश्वदेव, साकमेध, वरुणप्रघास और शुनासीरीय) यज्ञ किये जाते हैं। त्रिषंयुक्ताख्यकर्म में अग्नावैष्णव त्रिकपाल हविः, अग्नावैष्णव द्वितीय हवि और वैष्णवचरु तृतीय हवि होती है, इसको त्रिषंयुक्तहवियज्ञ कहा जाता है। तदनन्तर वैश्वानर द्वादशकपाल और वारुण यावचरु की दो हवियां होती हैं। तदनन्तर राजसूय का अंग, (प्रधान कृत्य) द्वादश[2] रत्नहवियां होती हैं, इसमें प्रथम दिन सेनानी के घर अनीकसंज्ञक अग्नि के लिये होम होता था, द्वितीय दिन पुरोहित के घर, बार्हस्पत्य हविः, तृतीय दिन ऐन्द्र हवि यजमान (अभिषिच्यमान राजा) के घर, चतुर्थ दिन अदिति के निमित्त-चरु महिषी के गृह, पञ्चमदिन वारुणचरु सूत के घर, षष्ठ दिन मारुत सप्तकपाल पुरोडाश ग्रामणी के घर, सप्तम सावित्र अष्टाकपाल क्षत्ता के घर, अष्टम आश्विन द्विकपाल संग्रहीता के घर, नवम पौष्ण हविभागदुघ के घर, दशम रौद्र गावेधुक हवि अक्षावाप के घर, एकादश आज्यहविः पालाकल (राजदूत) के घर और द्वादश नैर्ऋत चरु परिवृक्ती (परित्यक्ता रानी) के घर निर्वपण किये जाते थे।

अभिषेचनीय कर्म के भार्गव होता का वरण किया जाता था, तदनन्तर अध्वर्यु अग्नीषोमीय पशुपुरोडाश की आठ देवसुहवियां निर्वपण करता था, इनका क्रम इस प्रकार था—

प्रथम, प्राशुकव्रीहि की हविः सत्यप्रसव सविता को,
द्वितीय, आशुव्रीहिहविः, अग्नि गृहपति के लिये,
तृतीय, श्यामक हविः, वनस्पति सोम के लिये,
चतुर्थ, नैवारचरु, वाचस्पति बृहस्पति के लिये,
पञ्चम, हायनव्रीहि (वर्ष पुराने चावल), हवि, ज्येष्ठ इन्द्र के लिये,
षष्ठ, गावेधुक चर पशुपति रुद्र के लिये,
सप्तम, अकृष्टपच्यनाम्वव्रीहिहविः (चरु) सत्य, मित्रदेवता के लिये,
अष्टम, यावचरु धर्मपति वरुण के लिये।

---

1. षष्टिंत्रीणि शतानि सहस्राणां ददातीति बह्‌वृचब्राह्मणं भवति
(आ० श्रौ० 8-8-1-7)
2. बारह प्रधान राजकर्त्ता—सेनानी आदि को द्वादशरत्न कहा जाता था, उनके नाम पर ही ये द्वादश हवियाँ थीं।

तदनन्तर अध्वर्यु या ब्रह्मा राजा का हाथ पकड़कर द्वादश रत्नियों से निवेदन करता है—

'एष वोभरतो राजा'

'एष वो जनता राजा'

सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा, इत्यादि ।

राजा के, अभिषेक के लिये क्रम: निम्न 18 प्रकार के जल एकत्र किये जाते थे—

(1) सारस्वत (सरस्वती नदी का जल), (2) समुद्रिय जल (3) उर्मिजल (4) प्रतीपनदीजल (5) अन्वीपनदीजल (6) कूपजल (7) प्रतीप सरोवर जल (8) स्यन्दन (बहता) जल (9) परिवहन जल (10) आतपवर्ष्यजल (11) रूपदर्शिनी निर्मलजल (12) स्थावरजल (13) हैमजल (14) गोरुल्व्य (15) पय: (दूध) (15) दधि (16) दधि (17) घृत और (18) मधु।

अभिषेकार्थ चार—पालाश, औदुम्बर, न्यग्रोध और आश्वत्थ काष्ठपात्रों में उपर्युक्त जल भरा जाता है, अभिषेक से समय साथ-साथ होमादि कार्य भी होते हैं। अध्वर्यु राजा (यजमान) के तार्प्य वस्त्र पहिनाता है, उसके ऊपर पाण्डुकंबल पहिनाया जाता है, कण्ठ में यज्ञोपवीत, और शिर पर उष्णीष (साफा) बांधा जाता है। अध्यर्यु राजा का एक धनुष और तीन वाण देता है, वह लौहायस बाण को केशव केशधारी के मुख में डालता है, राजा को व्याघ्रचर्म पर बिठाकर उसके शिर पर सौवर्ण परिमंडलरुक्म (मुकुट) रखा जाता है जिसमें नौ या सौ छिद्र होते हैं, तदनन्तर अभिषेक (स्नान) आरम्भ कराया जाता था। सर्वप्रथम पुरोहित पालाशपात्र जल से स्नान कराता था, द्वितीय औदुम्बरपात्रजल से राजभ्राता, तृतीय नैयोग्रधपात्रजल से मित्रराजन्य और चतुर्थ आश्वत्थपात्रजल से वैश्य (श्रेष्ठी) राजा का अभिषेक करता था। तदनन्तर होम किया जाता था।

वाजपेयक्रतु के समान रथयोजन कर्म में यजमान रथ पर चढ़कर बैठता है, रथचालन और रथस्थापन के अनन्तर होम, दक्षिणा आदि कर्म होते हैं। तदनन्तर द्यूत और शौन:शेपाख्यान आदि किये जाते हैं। आख्यान के अन्त में राजा हिरण्यकशिप्वासन को होता को, हिरण्यकूर्च अध्वर्यु को, मणि आदि ब्रह्मा को दान दी जाती थीं। दक्षिणादान के अनन्तर अवभृथस्नान और पुन: दक्षिणा दी जाती है। महत्वपूर्ण दशपेयसंज्ञक सोमक्रतु में दश ब्राह्मण मिलकर सोमपान करते हैं। यजमान के चमस में दश क्षत्रिय सोम पीते हैं। सोमपान के अन्त में यजमान (राजा) हिरण्यमाला उद्गाता को, रुक्म होता को, हिरण्यदर्पण अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता को आर गायादि अन्य ऋत्विजों को दी जाती हैं ।

दशपेय के अन्त में यजमान व्रतधारण करता है, वर्षपर्यन्त केशाग्रछेदनादि कर्म वह होते हैं, धरती पर पैर नहीं रखता। तदनन्तर अग्नि, सोम, इन्द्र, विश्वदेव और मित्रावरुण के लिये पंचबिलसंज्ञकहविनिर्वपण होता है, तदनन्तर बार्हस्पत्यचरु, सात्यदूतहवि और दक्षिणा होती है। दक्षिणा में तिसृधन्व[1] शुष्कदृति या दंड और वाराह चर्म की उपानह (जूते) दान दिये जाते हैं।

पञ्चबिलकर्म के अन्त में द्वादश मास (वर्षपर्यन्त) प्रयुग्घविःकर्म होता है, इसके करने पर राजसूययज्ञ तैंतीस मास में समाप्त होता था।

तदनन्तर यजमान को पशुबन्धयज्ञ, अतिरात्र, व्युष्टित्रिरात्र, और अग्निष्टोम नाम के प्रसिद्ध सोमक्रतु करने होते थे।[2]

(अश्वमेध)

महिमा—यजुर्वेद की संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों और कल्पसूत्रों में अश्वमेधयज्ञ की अतीव महिमा गाई है, इसे यज्ञों का राजा कहा गया है। डा० सत्यप्रकाश स्वामी के अनुसार ऋग्वेद आदि संहिताओं (मन्त्रों) में अश्वमेधशब्द यज्ञ का वाचक न होकर किसी राजा आदि का अभिधायक है।

वेद के अनुसार अश्व इस पृथिवीलोक पर प्रजापति (सूर्य) का प्रतिनिधि है—

> **"प्रजापतिर्वै देवानां वीर्यवत्तमो वीर्यमेवास्मिन् दधाति, तस्मादश्वः पशूनां वीर्यवत्तमः।**
> **तस्मादश्वः पशूनामोजस्वितमः पशूनामाशिष्टः।[3]"**

"प्रजापति देवों में वीर्यवत्तम है, इसमें वीर्य (बल) का आधान करता है, इसलिये अश्व पशुओं में वीर्यवत्तम है यह पशुओं में ओजस्वितम और शीघ्रतमगामी है।" इसलिये मन्त्र में अश्व या सूर्य की अनेक विशेषणनामों से स्तुति की है—[4]

> **विभूमात्रा प्रभू पित्राऽश्वोऽसि।**
> **हयोऽसि अत्योऽसि मयोऽसि अर्वाऽसि।**
> **सप्तिरसि वाज्यसि वृषासि नृमणाऽसि।**
> **ययुर्नामासि शिशुर्नामासि॥**

---

1. तीन धनुषों के बराबर भूमि को तिसृधन्व कहा जाता था।
(आ० श्रौ० (18-21-11।17)
2. आ० श्रौ [18-22-21)
3. श० ब्रा० (6-3-3-10)
4. श० ब्रा० (22-19)

यज्ञविधान—अश्वमेध सोमक्रतु का ही एक महदनुष्ठान था, अश्व के सवनीय पशु होने के कारण इसकी यह 'अश्वमेध' संज्ञा प्रसिद्ध हुई। सार्वभौम राजा ही इसका अनुष्ठान कर सकता था। इसका प्रारम्भ फाल्गुनशुल्क नवमी या अष्टमी के दिन ग्रीष्म में किया जाता था।[1] यज्ञ से एकसप्ताहपूर्व ऋत्विजों को एकत्रित किया जाता था।

यजमान चार पात्रों में भोजन पकाता था और भोज के अन्त में प्रत्येक ऋत्विक् को एक सहस्र और शतमान (स्वर्णमुद्रा) या निष्क देता था। अध्वर्यु चार सौवर्ण निष्क यजमान के गले में बांधता था अनुचरीसहित चार राजपत्नियां[2]। राजा के निकट आती थीं। रात्रि में यजमान (राजा) वावाता के उर्वन्तर (गोद) में ब्रह्मचारी होकर सोता था।

आपस्तम्बकल्प में मेध्याश्व—कृष्ण, श्वेत, पिशङ्ग सारंग या अरुणपिशंग होना चाहिये। ब्रह्मा द्वारा अनुज्ञात अध्वर्यु अश्व को बांधकर यज्ञभूमि की ओर लाता है। यजमान की पितुष्वसा का पुत्र एक चतुरक्ष श्वान को आगे और मातुष्वसा का पुत्र पीछे लकर चलता था। आयोगव पुंश्चलू कुत्ते को सैध्रक मुसल से मारता चलता था। अश्व को कुत्ते के साथ ही किसी सरोवर में शुद्धि के लिये तैराते थे। वरत्रा से बंधी हुई ऐषीकों पर घोड़े को लिटा देते थे। दो दो सौ आदमी दोनों ओर से पकड़े रखते थे। अश्व को खूब हिलाकर नहलाते थे, फिर जल में से निकाल कर उसे पोंछते थे। अश्वप्रोक्षण के अवसर पर होम के समय वीणागाथी ब्राह्मण स्वयंरचित तीन गाथायें यज्ञदान की प्रशंसा में, गाता था।[3] फिर घोड़े को सैकड़ों घोड़ों के मध्य में छोड दिया जाता था। अश्व की रक्षा के लिये ये व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे—

सौ राजपुत्र, सो राजन्यपुत्र, सौ सूतग्रामणी पुत्र, और सौ क्षत्तृसंग्रहीतापुत्र, इनके साथ ही अस्त्रशस्त्र से सज्जित अनेक सन्नद्ध सारथी, विपथगामी वैश्य और वरूथीशूद्रगण भी होते थे। रात्रि में इन रक्षकों का निवास रथकार (बढ़ई) के घर होता था।

अश्व के लौटने पर—

प्रातः हिरण्यकशिपु पर पृथक् पृथक् होता, ब्रह्मा, अध्वर्यु और यजमान बैठते थे। होता वर्षपर्यन्त परिप्लवोपाख्यान या भौवमन्योपाख्यान की कथा कहता था।

---

1. या असौ फाल्गुनीपौर्णमासी भवतीति (श० ब्रा० 13-4-14)
2. चार राजपत्नी-महिषी, वावाता, परिवृक्ती और पालाकली।
3. गाथाओं का प्रारम्भ, मध्य या अवसान इन तीन शब्दों के साथ होता था—
'अददा:' अजयथा: और 'अपच:।

सायं धृतिहोम में वीणागाथी तीन गाथायें गाता था। पारिप्लवोपाख्यान[1] में दशविध मानवी प्रजा को दश वेद (शास्त्र) सुनाये जाते थे—

प्रथम दिन, वैवस्वतमनु की प्रजा मानवों को ऋग्वेद सुनाया जाता था।

द्वितीय दिन, वैवस्वत यम की प्रजा पितरों को यजुर्वेद सुनाया जाता था।

तृतीय दिन, वरुण की प्रजा गन्धर्वों को अथर्ववेद सुनाया जाता था।

चतुर्थ दिन, सोम (प्रजापति) की प्रजा अप्सरागण को अंगिरसवेद सुनाते थे।

पञ्चम दिन, अर्बुद काद्रवेय नाग की प्रजा नागों को सर्पवेद सुनाया जाता था।

षष्ठ दिन, वैश्रवणकुबेर की प्रजा यक्षराक्षसों को 'देवजनवेद' सुनाया जाता था।

सप्तम दिन, असित धान्व की प्रजा असुरों (दैत्यदानवों) को 'मायावेद' सुनाया जाता था।

अष्टम दिन, मत्स्यसाम्मद की प्रजा निषादों को 'इतिहासवेद' सुनाया जाता था।

नवम दिन, तार्क्ष्य वैपश्यत (सुपर्ण) की प्रजा सुपर्णों को 'गारुडवेद' सुनाया जाता था।

दशम दिन, देवराज इन्द्र की प्रजा देवों का सामवेद सुनाया जाता था।

इसी क्रम से वर्षपर्यन्त (360 दिन) इन दश वेदों की कथा होती थी। इस प्रकार प्रत्येक वेद के लिये वर्ष में 36 दिन निश्चित थे।[2] आपस्तम्बकल्प में यह तीस महीने (ढ़ाई वर्ष) का संवत्सर होता था[3]। वीणागाथी ब्राह्मण को शतशकटयुक्त या द्विशतशकटयुक्त दो सौ या चार सौ बैल दानदक्षिणा में मिलते थे।[4]

दीक्षा के अनन्तर चैत्री पूर्णिमा को उखासंभरण और इष्टकापशुयज्ञ किये जाते हैं, सातदिनपर्यन्त सात इष्टियां होती हैं। तदनन्तर अध्वर्यु चार-चार औद्ग्रभ और आध्वारव होम होते हैं। कृष्णाजिन पर बैठकर यजमान यजुर्वेद से राष्ट्रगान को गाता है—

'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसवी जायतामिति'

इस समय उख्याग्नि की उपासना करके यजमान मौनव्रत छोड़कर दैव्यगाथा गानश्रवण करता है।

---

1. श० ब्रा० (काण्ड 13, अध्याय 4, ब्राह्मण 3)।
2. पट्त्रिंशतं दशाहान्याचष्टे (श० ब्रा० 13-4-3-15)
3. आ० श्रौ० (20-7-4)
4. आ० श्रौ० (20-7-5-6)

दीक्षारम्भ में द्वादश दिनों में वैशाखशुक्लतृतीयापर्यन्त द्वादश सुत्या होती हैं। प्राची दिशा में सार्धसप्तपुरुष (अग्निचिति के तुल्य 40 फुट या पाद) क्षेत्र में देवयजन (यज्ञभूमि) बनाया जाता जाता है। यह क्षेत्र द्विगुण या त्रिगुण बढ़ाया जा सकता है। यहा पर 21 यूप गाड़े जाते हैं। यूपों के मध्य से राजुद्दालसंज्ञक यूप होता है जिसमें अश्वमेधाश्व बाँधा जाता है। प्रत्येक यूप से 21-2 पशु बाँधे जाते हैं।

युद्धविजित द्रव्य में से प्रत्येक को प्रभूत द्रध्य महर्त्विक् को या बराबर दिया जाता था दिग्विजय की चारों दिशायें (देश) भी चारों ऋत्विजों को दान देदी जाती थी।

तदनन्तर होम और सोमपान के पश्चात् अश्व को अलंकृत किता जाता है। महिषी आदि सुवर्ण, एवं मणि आदि से मेध्याश्व को अलंकृत करके उसका अभ्यंजन (लेपादि) करती थीं। अश्व शरीर से विभिन्न मेध्य पशु बांधे जाते थे। कुल 337 ग्राम्य और अन्य आरण्य पशु बाँधे जाते थे, कुल 609 पशु (पक्षियोंसहित) होते थे—

षट् शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य नवभिरधिकानि च॥

यूपपशुनियोजन के अनन्तर अश्वप्रोक्षण होता था और कपिंजल आदि पक्षियों को मुक्त कर दिया जाता था। तदनन्तर अलंकृत मेध्वाश्व का संज्ञपन (वध) किया जाता था, रात्रि में अश्व के निकट महिषी सोती थी, वह अश्वशिश्न को आत्मयोनि से स्पर्श कराती थी[1], मन्त्रात्मकसंवाद (यकासका, शु० य० 23-22-31) के अनन्तर अध्वर्यु महिषी को उठाता था।

तदनन्तर लौही, राजती और सौवर्णी सूचियों (सुइयों) को राजपत्नियाँ घोड़े के शरीर में घुसाती थीं और अध्वयु घोड़े के पेट को फाड़ देता था, उसके मेद, वपा आदि को एकत्रित करके होम किया जाता था। इसी समय ब्रह्मोद्यसंज्ञक मन्त्रात्मक संवाद होता था। तदनन्तर वपा से होम किया जांता था, एवं अश्व के अन्य अंगों का होम किया जाया था।

1. इस भ्रष्टप्रथा के अवसर पर अध्वर्यु आदि महिषी से प्रायः व्यभिचार कर लेते थे जैसा कि पाण्डव जनमेजय की पत्नी वपुष्टमा से अध्वर्यु ने व्यभिचार किया—

अध्वर्युकृतव्यभिचार को ब्राह्मणों ने अपनी कल्पना से इन्द्र के मत्थे मढ़ दिया—

तां तु सर्वानवद्याङ्गीं चकमे वासवस्तदा।
संज्ञप्तमश्वमाविश्य तथा मिश्रीबभूव ह॥
असतीं वपुष्टमामेतां निर्यातियत मे गृहात्॥ (हरि० 3-5-13)

अवभृथेष्टि के अनन्तर पिंगाक्ष, खलति (गंजा), दन्तुर या कुष्ठी (श्वेतांग) नर के शिर पर होम किया जाता था—

'जुम्बकाय स्वाहा'

'मृत्यवे स्वाहा' इत्यादि ।

यज्ञान्त में राजा सानुचरी भार्या को किसी ऋत्विक् को दान देता था, तथा पालागली को अध्वर्यु को दिया जाता था, परन्तु कल्पान्तर के मत में यह विधान नहीं था। इतिहासपुराणों से भी यह मत पुष्ट होता है कि किसी भी राजा ने अपनी भार्या का दान नहीं किया, केवल हरिश्चन्द्र द्वारा अपनी भार्या शैव्या के विक्रय की कथा प्रसिद्ध है, परन्तु वह भी विवादग्रस्त एवं नूतनकल्पनामात्र प्रतीत होती है।

अश्वमेध के अनन्तर कल्पसूत्रों में पुरुषमेध, सर्वमेध और पितृमेधसंज्ञक तीन यज्ञों का संक्षिप्त उल्लेख मिलता है, यहां इन तीनों का आभासमात्र प्रस्तुत करते हैं।

पुरुषमेध—शतपथ (6-2-1-37) के अनुसार सर्वप्रथम प्रजापति ने यह यज्ञ किया और अन्तिम यज्ञ श्यापर्ण सांकायन ने किया। अन्यमत से पुरुष नारायण ऋषि इस यज्ञ के प्रवर्तक थे—

'पुरुषो नारायणोऽकामयत···स एवं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्, यमाहरत् ।"[1]

ऐतरेयब्राह्मण और महाभारत के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सभ्यसमाज में पुरुषवध कभी हुआ ही नहीं, राजा हरिश्चन्द्र के समय शुनःशेप की बलि का प्रयत्न विश्वामित्र के सामर्थ्य से असफल हो गया।[2]

इस मेध में विद्वान् और अविद्वान्—सभी धन्धों के 184 पुरुष एकादशयूपों पर बांधे जाते थे। यजमान सभी की पुरुषसूक्त से उपासना करके, होमादि के अनन्तर उन्हें बन्धनमुक्त करके छोड़ देता था और सर्वस्वदान करता था।[3]

प्रतीत होता है कि यह यज्ञ महाभारतकाल से पूर्व ही लुप्त हो चुका था और केवल ब्राह्मणग्रन्थों एवं कल्पसूत्रों में इसका कागजी विधान ही था।

सर्वमेध – इसका विधान दशरात्र के सदृश था, कुल 34 दिन में पूरा होता था, इसमें अग्निष्टोम, अप्तोर्यामि, एवं उक्थ्यादि सोमक्रतु किये जाते थे। चैत्रशुक्ल-षष्ठी के दिन इष्टकापशु और उखासंभरण होता था, इस यज्ञ में एक ही यूप गाड़ा जाता था, जिस पर सवनीयपशु बांधे जाते थे। यज्ञान्त में पुरुषसहितभूमि दान दी जाती थी।

पितृमेध – आपस्तम्बकल्प में पितृमेध का वर्णन नहीं है, आपस्तम्बशाखीय भारद्वाजीयपितृमेधसूत्र के अनुसार अन्त्येष्टि करते थे। तैत्तिरीयारण्यक और भारद्वाजकृतमेधसूत्र में पितृमेध का प्रायः समासविधान वर्णित है।

★ समाप्तम् ★

1. श० ब्रा० (13-6-1-1)
2. ऐ०ब्रा, अ० 8;
3. शु० य० (अध्याय (30)

13902

इतिहासपुनर्लेखन के अनमोल, मौलिक क्रान्तिकारी ग्रन्थ

—डा० कुँवरलाल व्यासशिष्य

नवीन प्रकाशन	मूल्य
1. आपस्तम्बकल्प में यज्ञविद्या	50-00
2. भारतीय-इतिहास पुनर्लेखन क्यों और पुराणों में इतिहास-विवेक	50-00
3. वेदव्यासपरम्परा	20-00
शीघ्र प्रकाश्य	
1. पुराणों में वंशानुक्रमिककालक्रम	125-00
2. आचार्यपरम्परामूलक्रम	100-00
3. Indian Daityas Colonized Europe	30-00
4. Dynastic Chronology in Puranas	150-00
पूर्व प्रकाशन	
1. वैदिकसाहित्य का इतिहास	8-00
2. इतिहासपुराणसाहित्य का इतिहास	10-00
. भारतीय संस्कृति	15-00
निरुक्तसारनिदर्शन	15-00
संस्कृतललितसाहित्य का इतिहास	30-00
6. भारतीयदर्शन	40-00
7. वा. . दर्शन	20-00

प्राप्तिस्थान

इतिहासविद्याप्रकाशन

आरामशीन गली, धर्मकालोनी,

नांगलोई, दिल्ली-41